जागोरी की पत्रिका
जुलाई-दिसम्बर 2012

हम सबला

इस अंक में
कानून–हक़
इंसाफ़

हम सबला

जुलाई-दिसम्बर 2012

इस अंक में

हमारी बात	जुही	1
लेख		
"क्या मैंने कुछ किया?" कार्यस्थल पर यौन हिंसा की समझ	नंदिनी राव	2
महिलाओं के उत्तराधिकार हक़	मधु किश्वर व रूथ वनिता	8
भ्रांतियों के घेरे में: मुसलमान महिलाओं के हक़	फ्लेविया एग्निस	12
घरेलू हिंसा सुरक्षा कानून: एक विश्लेषण	लॉयर्स कलैक्टिव विमेन राइट्स इनिशियेटिव	15
सरोगेसी: व्यावसायिक या निस्वार्थ	मोहन राव	24
महिला अधिकार-न्यायिक संवदेनशीलता के प्रश्न	सुनीता ठाकुर	32
कविता		
चमक के अलावा	अनामिका	18
अन्यायी न्याय	कमला भसीन	20
संख्या	पवन करण	27
संवाद		
राष्ट्रीय घरेलू कामगर नीति: एक समीक्षा	चैताली	5
शहर में महिलाओं की सुरक्षा-कैसे?	कल्पना विश्वनाथ	35
महिला सशक्तता और कानून	सुमन नलवा	37
कहानी		
सुमिन्तरा की बेटियां	सूर्यबाला	21
आमने-सामने		
जायज़ या नाजायज़?	फ्लेविया एग्निस	19
किराए पर कोख	आरती धर	28
हमारा शरीर, हमारा हक़	गौतम भान	30
पुस्तक परिचय		
फ़ैमिली लॉज़ एण्ड कॉन्स्टीट्यूशनल क्लेम्ज़ मैरिज, डाईवोर्स एण्ड मैट्रिमोनियल लिटिगेशन	जुही	39
फ़िल्म समीक्षा		
ब्रेकिंग द बैरियर	सरिता बलोनी	40
नया प्रकाशन		13
आपबीती		14/36

अतिथि संपादक
नंदिनी राव

संपादन एवं अनुवाद
जुही जैन

संपादन सहयोग
जया श्रीवास्तव
वीणा शिवपुरी
अनामिका
सीमा श्रीवास्तव
गीता नम्बीशन

मुख पृष्ठ:
डिज़ाइन: विनय आदित्य, यशवंत सिंह रावत

पिछला कवर:
पोस्टर: उमड़ते सौ करोड़-साभार: संगत

रेखाचित्र:
प्रशांत ए.वी.

सज्जा व मुद्रण: सिस्टम्स विज़न
systemsvision@gmail.com

जागोरी JAGORI

बी-114, शिवालिक
नई दिल्ली 110017
ई-मेल: humsabla.patrika@jagori.org
वेबसाइट: www.jagori.org
दूरभाष: 26691219, 26691220
हेल्पलाइन: 26692700

'उमड़ते सौ करोड़' अभियान

हर तीन औरतों में एक से ज़्यादा अपने जीवन में किसी न किसी प्रकार की हिंसा का सामना करती है। इसका मतलब है कि करीब सात सौ करोड़ औरतें हिंसा का शिकार हैं। औरतों के साथ होने वाली इस हिंसा को हमेशा के लिए जड़ से मिटाने के विश्व-व्यापी संघर्ष का नाम है ***उमड़ते सौ करोड़***।

14 फरवरी 2012 को वी-डे तथा इसकी संस्थापक, ईव एन्सलर ने इस एक वर्षीय अभियान का आगाज़ किया और समस्त विश्व को इस महत्वपूर्ण पहल के साथ जुड़ने की दावत दी। 14 फ़रवरी 2013 को यह अभियान दुनिया को झकझोरने का इरादा रखता है। उस दिन पूरे विश्व के अलग-अलग शहरों, राज्यों, देशों के सौ करोड़ लोग, अपना सब काम छोड़कर घरों, स्कूलों, दफ़्तरों, कालेजों से बाहर सड़कों पर निकलेंगे। वे एक साथ मिलकर नाचेंगे, गायेंगे और जश्न मनाएंगे। इसके साथ-साथ वे अपनी इस एकजुटता के साथ हिंसा को जड़ से मिटाने की मांग का आह्वान करेंगे। सभी के विरोध-प्रदर्शन का एक ही नारा होगा— बस, अब और नहीं! कत्तई नहीं!!!

हमारा विश्वास है कि ये अभियान एक बहुत सशक्त भूमंडलीय पहल है। हममें से हरेक नागरिक को जो समाज में व्याप्त हिंसा को जड़ से मिटाने के प्रति वचनबद्ध है, इसका हिस्सा बनना चाहिए, इसमें शिरकत करनी चाहिए।

इस अभियान से जुड़े सभी पक्षों व सहयोगियों से चर्चा के बाद दक्षिण एशिया में इस अभियान के संचालन की ज़िम्मेदारी 'संगत' ने उठाने का निश्चय किया है। दक्षिण एशिया व आस-पड़ोस के क्षेत्रों के विभिन्न देशों के सक्रिय संगठनों और कार्यकर्ताओं ने इस अगुवाई को एक सकारात्मक पहल माना है और हमारे साथ जुड़ने का इरादा किया है।

हालांकि इस अभियान की शुरूआत वी-डे द्वारा की गई है लेकिन पूरी दुनिया के लोग अपने देश, प्रदेश, शहर और इलाके में इसे अपने ढंग से चलाएंगे। इसका स्वरूप, गतिविधियां और मुद्दे स्थानीय तौर पर तय किए जाएंगे। इस लिहाज़ से 'उमड़ते सौ करोड़' अभियान लोगों का अपना आंदोलन है।

ईव एन्सलर, दक्षिण एशिया के संगठनों व कार्यकर्ताओं के साथ विचार-विमर्श के बाद निम्न बातें पुख़्ता होकर सामने आई हैं। कुछ बातों का ताल्लुक हमारे वैचारिक मूल्यों से है तो कुछ अभियान के संचालन पक्ष से जुड़ी हैं।

- इस अभियान की योजना और स्वरूप स्थानीय स्तर पर तय किया जाएगा यानी सत्ता का विक्रेंद्रीकरण होगा। इसमें काम करने व फ़ैसले लेने की प्रक्रिया लोकतांत्रिक रहेगी।
- काम-काज से लेकर पूंजी इकट्ठी करने व इस्तेमाल की प्रक्रिया में पारदर्शिता व जबावदेही होगी।
- 'संगत' दक्षिण एशिया के देशों में अपने प्रतिनिधि सदस्य नियुक्त करेगी जो अपनी देशीय संस्थाओं और भागीदारों के बीच तालमेल और समन्वय रखेंगे।
- भारत में एक राष्ट्रीय समूह, क्षेत्रीय व स्थानीय समितियां होंगी जो आपसी सहयोग से काम करेंगी।
- इस अभियान को चलाने के लिए ज़रूरी संसाधन हमें खुद अपने स्थानीय स्तर पर जुटाने होंगे।
- अभियान से जुड़े नारे, गीत, पोस्टर, बैनर व अन्य सामग्री आपस में एक दूसरे के साथ बांटी जाएंगी।
- अपने देश के जागरूक व प्रतिबद्ध कलाकारों, गायकों, अभिनेताओं, चित्रकारों से सम्पर्क करके उन्हें इस अभियान से जोड़ना होगा। परन्तु यह स्पष्ट रहना चाहिए कि इस अभियान में उनकी कोई केन्द्रीय भूमिका नहीं होगी। कलाकारों से आग्रह होगा कि वे अपनी कला के ज़रिए औरतों पर होने वाली हिंसा का मुद्दा उठाएं व कुछ नया रचें। ये कृतियां गीत, नाटक, लघु फ़िल्म, चित्र, पोस्टर, क्लिप आदि किसी भी रूप में हो सकती हैं।
- एक विशेष बात यह है कि सौ करोड़ लोगों को एकजुट करने के लिए हमें बहुत से ऐसे लोगों का सहयोग भी लेना पड़ेगा जो जेंडर संबंधी मुद्दों पर काम न करते हों या वैचारिक फ़र्क़ों के कारण अन्य हालातों मे शायद हम उनके साथ काम न करें। परन्तु इस अभियान को हमें एक इंद्रधनुषी गठजोड़ की तरह देखना चाहिए जिसमें अधिक से अधिक लोगों की शिरकत महत्वपूर्ण है।
- बड़े समूहों जैसे युवा वर्ग, विद्यार्थियों के मंच, आंगनवाड़ी कार्यकर्ता तथा अन्य के साथ भी गठजोड़ का भी प्रयास किया जाना चाहिए।
- राजनैतिक पार्टियों और राजनेताओं की सहभागिता के बारे में हमें सोच-समझकर फ़ैसला लेना होगा।
- इस अभियान में मीडिया का सहयोग एक अहम पहलू है इसलिए हर देश में एक मीडिया समूह गठित किया जायेगा। मीडिया में सक्रिय नारीवादी विचारधारा वाले पत्रकारों से सम्पर्क करके उनसे इस पहल में जुड़ने का अनुरोध करना चाहिए।
- अखबारों, टीवी चैनलों और पत्र-पत्रिकाओं को अपने साथ जोड़ना चाहिए ताकि पूरे वर्ष यह मुद्दा सुर्ख़ियों में रहे तथा हमारी सांस्कृतिक अभिव्यक्तियां व अन्य गतिविधियां लोगों तक पहुंचती रहें।
- ***उमड़ते सौ करोड़*** एक आम अभियान या आंदोलन नहीं है। यह हम सबके लिए आखिरी पड़ाव है। अब कुछ ऐसा होना ही चाहिए कि हिंसा और बलात्कार की संस्कृति जड़ से ख़त्म हो जाए और समाज, देश और दुनिया में बदलाव की लहर आए।

इस अभियान के ज़रिए हमारा मक़सद है लोगों, समाज, देशों और दुनिया की सोच बदलना। हम वादा करते हैं कि इस अगुवाई के चलते हम 14 फरवरी 2013 को अपने पैरों का थाप व बुलंद आवाज़ से धरती व आसमान को गुंजा देंगे। हमारे इस जश्न में हर देश, नस्ल, रंग, वर्ग, यौनिक पहचान वाले तमाम लोग शामिल होंगे जो हिंसा का नामो-निशान मिटाने के लिए प्रतिबद्ध हैं। तो आइए, हमारे साथ इस अभियान, इस क्रांति, इस सशक्त इंकार में शिरकत कीजिए और दोहराइए:

हिंसा का दर्द पीना हमें मंज़ूर नहीं, डर के सायों में जीना हमें मंज़ूर नहीं
कौन कहता है कि यह एक मजबूरी है, बस! अब ये सूरते-हाल हमें मंज़ूर नहीं!

हमारी बात

पिछले कई दशकों में महिलाओं के अधिकारों को कानून के माध्यम से आगे ले जाने के विमर्श ने ज़ोर पकड़ा है। घरेलू हिंसा से महिलाओं की सुरक्षा कानून और हाल ही का कार्यस्थल पर महिलाओं के साथ होने वाली यौन हिंसा को सम्बोधित करने वाला कानून इस राह में मील के पत्थर साबित हुए हैं। इस सबके बावजूद कानूनी सिंद्धातों और महिला अधिकारों का आपसी ताना-बाना विरोधाभासों व जटिलताओं से घिरा है।

कानून, इंसाफ़ और जेंडर नारीवादी विमर्श में अहम सरोकार रहे हैं। आम सोच यह है कि महिलाओं के हितों को ध्यान में रखते हुए कानून बना देने से न्याय का लक्ष्य हासिल किया जा सकता है। पर सच्चाई इससे कोसों दूर है।

सही मायने में इंसाफ़ तभी किया जा सकता है जब समाज में असमानता और भेदभाव मिटाने के लिए सक्रिय कदम उठाए जाएं। जब तक महिलाओं को समाज में बराबरी के मौके व दर्जा नहीं मिलता सामाजिक न्याय की कल्पना करना मुश्किल है। महिलाओं के लिए भी कानून और इंसाफ़ के मायने सिर्फ़ उनके दावों को कानूनी मान्यता मिलने से नहीं है। असल चुनौती तो यह है कि पितृसत्तात्मक सामाजिक ढांचों तथा महिलाओं के जीवन के अनुभवों को ध्यान में रखते हुए औपचारिक व अनौपचारिक कानून की व्याख्या की जाए। हम सबला का यह अंक कानून व महिलाओं के आपसी संबंधों को उजागर करने का प्रयास है।

यह भी माना जाता रहा है कि क्योंकि कानून का उद्देश्य न्याय करना है इसलिए अगर कानून में कोई कमियां है तो उनमें संशोधन लाकर इस लक्ष्य को पूरा किया जा सकता है। परन्तु सही मायने में न्याय व समता पर आम सहमति बनाना मुश्किल होता है। किसी एक व्यक्ति के साथ किया जाने वाला न्याय किसी दूसरे के साथ अन्याय और भेदभाव के रूप में देखा जा सकता है। कानून बनाने के समय अक्सर सत्ताधारी वर्ग के न्याय के मानक को ही सही मान लिया जाता है जिसके नतीजतन समाज के हाशियेदार और अरक्षित तबकों के साथ नाइंसाफ़ी होती है।

नारीवादी सिद्धांत को अनुसरण करने वाले पक्षों का विचार है कि कानूनी, नैतिक व सामाजिक मानदण्ड पितृसत्तामक विचारधारा पर आधारित होते हैं। लिहाज़ा महिलाओं के लिए इंसाफ़ के मानकों को कानून के अंतर्गत निष्पक्षता, समदर्शिता और औपचारिक समानता के संबंध में ही आंका जाना चाहिए।

इस अंक में हम उपर्युक्त विचारों को महिलाओं के अनुभवों, कानूनी व्याख्याओं, फ़ैसलों, नई बहसों और विमर्शों के दायरे में समझने की कोशिश कर रहें हैं। लेखों के माध्यम से घरेलू हिंसा, यौन उत्पीड़न, कार्यस्थल व सार्वजनिक जगहों पर औरतों की सुरक्षा, काम व नई सरकारी नीतियां, यौनिक पहचान व कानूनी हक़ तथा महिलाओं के लिए न्याय प्रणाली के मायने जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों की भी समीक्षा की जा रही है। हमें उम्मीद है कि इस अंक के ज़रिए हमें महिलाओं के अधिकारों को और अधिक बारीकी से समझने और कानून पर एक आलोचनात्मक नज़रिया विकसित करने में मदद मिलेगी।

जुही

लेख

"क्या मैंने कुछ किया?"

कार्यस्थल पर यौन हिंसा की समझ

नंदिनी राव

रीना (उम्र 20 वर्ष) ने लखनऊ के एक कम्प्यूटर संस्थान में दाखिला लिया। यह उसकी पहली नौकरी थी। वह कम्प्यूटर प्रोग्रामर के अपने हुनर को सबको दिखाने के लिए आतुर थी। उसे इस बात की भी खुशी थी कि वह अपने हमउम्र साथियों के साथ कुछ और नया भी सीख पाएगी। काम शुरू होने के एक सप्ताह बाद रीना के बॉस ने उसे अपने केबिन में बुलाया। दस मिनट बाद ही रीना ज़ोर-ज़ोर से रोती हुई बाहर आई। उसने बताया कि बॉस ने उसके कपड़ों पर छींटाकशी करते हुए उसके गाल को सहलाया और चिकोटी काटी। (तुम बिना दुपट्टे के कुर्ता क्यों पहने हो? थोड़ा व्यावसायिक तरीके से कपड़े पहना करो)। उस मीटिंग में ऐसा क्या हुआ था? क्या बॉस का व्यवहार अपमानजनक था या फिर रीना बात का बतंगड़ बना रही है?

मीना चार सालों से एक परिवार में पार्ट टाइम काम कर रही थी। परिवार वालों का उसके प्रति व्यवहार अच्छा था। वे उसे चाय-नाश्ता व अच्छी तनख्वाह भी देते थे और ज़रूरत पड़ने पर रुपये-पैसों से मदद करते थे। इसी दौरान मीना के पति की बीमारी से मृत्यु हो गई। अपने तीन बच्चों की ज़िम्मेदारी अब पूरी तरह मीना पर आ गई थी। कुछ दिनों बाद मीना को अपनी काम की जगह अटपटा लगने लगा। उसने महसूस किया कि मालिक उसे घूरता रहता है। अगर वह किसी कमरे की सफ़ाई करती तो मालिक पीछे-पीछे घूमता रहता। एक दिन जब मालकिन घर पर नहीं थी तब मालिक ने कहा कि वह बहुत सुन्दर और खुश लग रही है। उसने यह भी कहा कि पिछले कुछ महीनों से वह बहुत आकर्षक हो गई है। मीना बहुत डर गई। आखिर ऐसा क्या हुआ कि उसे घबराहट होने लगी?

क्या ये दोनों उदाहरण कार्यस्थल पर यौन हिंसा के मामले हैं? क्या किसी के घर को कार्यस्थल समझा जा सकता है? कार्यस्थल पर यौन हिंसा क्या है? इसे समझना और स्वीकारना मुश्किल क्यों है? क्या यह हिंसा का काल्पनिक रूप है या फिर वास्तविकता? क्या ये औपचारिक व अनौपचारिक दोनों जगह होती है? इससे बचाव के लिए हम क्या कर सकते हैं? इसका सामना कैसे किया जा सकता है? क्या अपराधी और पीड़ित को पहचानना आसान है? कहीं मैंने उसे उकसाने/प्रोत्साहित करने वाला काम/इशारा तो नहीं किया। इस अपराधबोध से बचने के लिए औरतें क्या कर सकती हैं?

इतिहास पर एक नज़र

1992 में भटेरी राजस्थान के महिला विकास कार्यक्रम की एक साथिन बाल विवाह रोकथाम के मुद्दे पर काम कर रही थी। क्षेत्र के उच्चवर्गीय पुरुषों को निम्नवर्गीय महिला की परम्परा तोड़ने की यह कोशिश रास नहीं आई। उसे सबक सिखाने के लिए सात पुरुषों ने उसका सामूहिक बलात्कार किया।

अपने काम की सज़ा पाने वाली इस साथिन की हालत पर क्रोधित होकर महिला संगठनों ने उसे इंसाफ़ दिलाने का बीड़ा उठा लिया। विशाखा मंच के तहत सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका दायर की गई जिसमें औरतों के लिए

हिंसामुक्त माहौल में काम करने की मांग की गई। 1917 में सर्वोच्च न्यायालय ने कार्यस्थल पर होने वाली यौन हिंसा को महिलाओं के संवैधानिक अधिकारों का हनन माना और इससे बचाव, निवारण व प्रतिकार के लिए *विशाखा दिशानिर्देश* पारित किए। तब से अब तक कार्यस्थल पर यौन हिंसा के मामले इन्हीं दिशानिर्देशों के तहत निपटाए जाते हैं।

कार्यस्थल पर यौन हिंसा का नया कानून

12 सितम्बर 2012 को लोकसभा ने *कार्यस्थल पर महिलाओं के साथ यौन हिंसा बचाव, निषेध, प्रतिकार कानून 2012* पारित किया है। इस कानून के अनुसार यौन हिंसा भारतीय संविधान के खण्ड 14 व 15 (बुनियादी अधिकार) व खण्ड 21 (जीवन व सम्मान से जीवनयापन अधिकार) का हनन है। इसमें यह भी माना गया है कि किसी भी व्यवसाय व रोज़गार के अधिकार मैं यौन हिंसा मुक्त माहौल में काम करने का अधिकार भी शामिल है। इस नए कानून में *सीडॉ घोषणापत्र* में उल्लेख किए गए यौन हिंसा से सुरक्षित माहौल में काम के अधिकार को भी स्वीकृति प्रदान की गई है। यह कानून देश की समग्र महिला संगठनों और समूहों के साथ विचार-विमर्श के बाद ही पारित किया गया है।

कार्यस्थल पर यौन हिंसा कानून 2012 के मुख्य बिंदु

यौन हिंसा एक घृणित व्यवहार है जो मौखिक, शाब्दिक, शारीरिक, लिखित किसी भी रूप में किया जा सकता है। चूंकि इस अपराध का स्वभाव निजी है इसलिए इसमें अपराधी की मंशा को मद्देनज़र नहीं रखा जाता बल्कि हिंसा सहने वाले व्यक्ति पर पड़ने वाले प्रभाव पर ध्यान दिया जाता है। इस व्यवहार में निम्न बर्ताव शामिल हो सकते हैं हालांकि यह इन व्यवहारों तक सीमित नहीं होताः

- रोज़गार/नौकरी में पक्षपातपूर्ण व्यवहार का निहित या खुला वादा।
- रोज़गार/नौकरी में अहित या नुकसानदेह व्यवहार की निहित या खुली धमकी।
- काम में रुकावट पैदा करने के इरादे से किया जाने वाला आक्रमक, अपमानजनक व्यवहार या डराने धमकाने वाला माहौल।

- सुरक्षा व स्वास्थ्य प्रभावित करने वाला अपमानजनक व्यवहार।

कानून में यह भी उल्लेखित है कि यौन हिंसा में निम्न अनचाहे व्यवहार व बर्ताव भी शामिल हैं जैसेः

- शारीरिक स्पर्श, पहल व पेशकश
- यौन आग्रह व प्रस्ताव
- यौन अर्थ वाली टिप्पणी
- अश्लील तस्वीरे दिखाना

कानून में 'कार्यस्थल' की परिभाषा को और अधिक व्यापक बनाया गया है। इसमें दफ़्तर व औपचारिक स्थल जैसे अस्पताल, खेल संस्थान, यातायात साधन व अन्य जगहें जहां काम के सिलसिले में कर्मचारी आते-जाते हैं, भी शामिल की गई हैं। इसके अलावा वे सभी अनौपचारिक जगहें जहां महिलाएं काम करती हैं, जैसे खुले निर्माण स्थल, बाज़ार, दुकानें या घर इत्यादि भी इसके विस्तार क्षेत्र में शामिल है। कानून में महिलाओं के काम की कुछ विशेष श्रेणियों का भी उल्लेख किया गया है। ऊपर दी गई केस स्टडी (मीना) यौन हिंसा के व्यापक स्वभाव को दर्शाते हुए यह समझाने का प्रयास है कि घर के भीतर काम करने वाली घरेलू कामगरों के लिए यौन हिंसा को साबित करना कितना मुश्किल होता है।

इस नये कानून ने सभी मालिकों व संस्थान प्रमुखों के ऊपर व्यवहार के विशेष नियम तथा कार्यस्थल पर होने

वाली यौन हिंसा से बचाव के तरीक़े इख़्तियार करने की ज़िम्मेदारी डाल दी है। अगर वे इन नियमों का पालन नहीं करेंगे तो उन्हें मुआवज़ा (आर्थिक व अन्य) भुगतना होगा। बचाव के तरीक़ों में यौन हिंसा निषेध संबंधी जानकारी का उपयुक्त माध्यमों से प्रकाशन, प्रसार व प्रचार शामिल है। इसके अलावा यौन हिंसा को अपराध की श्रेणी में जोड़ने के साथ-साथ अपराधी के ख़िलाफ़ कार्यवाही व सज़ा का प्रावधान भी सेवा के नियमों की फेहरिस्त में दर्ज किया जाना चाहिए। आंतरिक शिकायत कमेटी (ज़िला अधिकारी द्वारा गठित) जहां औरतें अपनी शिकायत के निवारण की मांग कर सकती हैं का भी प्रावधान इस कानून में दर्ज है।

शिकायत समिति का गठन

इन समितियों की अध्यक्षता संगठनों की वरिष्ठ महिला अधिकारी करेंगी तथा समिति की आधी सदस्य महिलाएं होंगी। इस समिति के अन्य सदस्यों में गैर सरकारी संगठनों तथा यौन हिंसा के मुद्दे पर जानकार सदस्य भी शामिल होंगे। इससे संगठन के भीतर से आने वाले अनचाहे दबाव से बचाव किया जा सकेगा।

कार्यस्थल पर यौन हिंसा कानून पर मौजूदा बहस व विचार

हालांकि इस कानून का बनना एक सराहनीय कदम है परन्तु महिला कार्यकर्ताओं के अनुसार इस कानून में तीन मुख्य कमियां हैं।

अनौपचारिक क्षेत्र की परिभाषा

कानून के खण्ड दो (I) में उल्लेख है, *कार्यस्थल समझे जाने वाले अनौपचारिक क्षेत्र के मायने हैं— निजी स्वामित्व या स्वनियोजित उद्योग, जो माल के उत्पादन व विक्रय अथवा किसी भी प्रकार की सेवा प्रदान करने में शामिल हों और जहां कम से कम दस कामगर नियुक्त हों।* इस कानून में महिला कृषि कामगारों को नहीं जोड़ा गया है। हिन्दू अखबार में छपे अपने लेख में बृंदा कारत कहती हैं— 'भारत की महिला श्रमिकों के एक विशेष हिस्से को इसमें न शामिल करना घोर अन्याय होगा। कृषि श्रमिक यौन हिंसा के प्रति सबसे अरक्षित वर्ग है। इस परिभाषा में मौजूद अस्पष्टता को दूर करते हुए इसमें खेत, कृषि व संबंधित काम को शामिल किया जाना चाहिए। सशस्त्र सेनाबल में मौजूद महिलाओं का इस कानून में विशेष उल्लेख किया जाना भी महत्वपूर्ण है।'

शिकायत दर्ज करने की अवधि

खण्ड 9 (1) के अनुसार, *पीड़ित महिला को तीन माह के भीतर शिकायत दर्ज करानी ज़रूरी है।* सवाल यहां यह है कि अक्सर महिलाएं हिंसा की शिकायत दर्ज नहीं कराती हैं। अनाधा सरपोटदार, इण्डियन एक्सप्रेस के लेख में लिखती हैं— 'शोध दर्शाती है कि सामाजिक कलंक और नौकरी पर पड़ने वाले नकारात्मक प्रभाव के चलते महिलएं यौन हिंसा की शिकायत करने में हिचकिचाती हैं। तो फिर इस सीमित अवधि में उससे शिकायत दर्ज करने की उम्मीद कैसे की जा सकती है? यह प्रावधान उसके न्याय पाने के रास्ते में अवरोधक बन सकता है।'

शिकायत की सच्चाई

खण्ड 14 (1) के तहत उल्लेखित है, *'अगर शिकायत झूठी या द्विवेषी पाई गई तो महिला या शिकायत दर्ज कराने वाले के ख़िलाफ़ सख्त कार्यवाही की जाएगी।'* एक प्रमुख नारीवादी वकील के अनुसार, 'यह खंड औरतों की हिम्मत तोड़ कर रख देगा क्योंकि उन्हें डर रहेगा कि शिकायत को सच साबित करने में मुश्किल होगी। इसी प्रकार हर शिकायत जिसके लिए सबूत न जुटाए जा सके को झूठा व द्विवेषी मान लिया जाएगा। यह अंतरिक शिकायत कमेटी का काम नहीं है कि वह शिकायत की सच्चाई साबित करे... या तय करे कि किस मामले की सच्चाई साबित की जा सकती है या नहीं... जिस व्यक्ति को लगता है कि शिकायत झूठी है वह इसके विरुद्ध कानूनी मदद ले सकता है। इस कानून के अंतर्गत महिला के लिए ख़िलाफ़ कार्यवाही करने के प्रावधान की कोई आवश्यकता दिखाई नहीं पड़ती।'

एक बार ये सभी मुद्दे हल हो जाएं फिर कार्यस्थल पर यौन हिंसा रोकथाम कानून काम के स्थान पर यौन हिंसा के ख़िलाफ़ संघर्ष करने वाली महिला कामगरों को न्याय दिलवाने के लिए एक सशक्त माध्यम बन सकता है।

नंदिनी राव *सक्रिय नारीवादी कार्यकर्ता व प्रशिक्षक हैं।*

राष्ट्रीय घरेलू कामगर नीतिः एक समीक्षा

संवाद

चैताली

पिछले कुछ दशकों से अनौपचारिक क्षेत्र में महिला कामगरों खासकर घरेलू कामगरों की संख्या बढ़ती जा रही है। इस बढ़ोत्तरी को ध्यान में रखते हुए घरेलू कामगारों के लिए कानून बनाने की आवश्यकता महसूस हुई। 2007-8 में राष्ट्रीय महिला आयोग ने इस वर्ग के लिए कानून बनाने की प्रक्रिया शुरू की। अलग-अलग राज्यों के संगठनों-समूहों ने भी इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए एक ड्राफ़्ट बिल का मसौदा तैयार किया। राज्य सरकार ने भी घरेलू कामगरों के हित के लिए न्यूनतम वेतन व कल्याणकारी कानून बनाया।

हमारे समाज में घरेलू कामगरों की स्थिति बेहद दयनीय है। शहरी गरीबों और गांवों से पलायन करने वाले इन कामगरों के पास सुरक्षा की कोई गारंटी नहीं होती। खराब काम का माहौल, कम वेतन और अनिश्चित काम इस वर्ग की नियति बन जाता है।

दिसम्बर 2009 में भारत सरकार ने इस मुद्दे को मद्देनज़र रखते हुए एक टास्क फ़ोर्स कमेटी का गठन किया। अपनी तीन महीने की अवधि में इस कमेटी ने एक रिपोर्ट तैयार की जिसके आधार पर अप्रैल 2010 में *राष्ट्रीय घरेलू कामगर ड्राफ़्ट नीति* तैयार की गई।

यहां सवाल यह उठता है कि हम इस विषय पर नीति बनाने की बात क्यों कर रहे हैं? क्या नीति बनाने से भविष्य में घरेलू कामगरों के हित के लिए कानून बनाने के रास्ते में रुकावटें पैदा नहीं होंगी? टास्क फ़ोर्स की सदस्य भारती बिरला इस समस्या का समाधान करते हुए यह कहती हैं, "ड्राफ़्ट नीति कानून के रास्ते में अवरोध पैदा नहीं कर सकती क्योंकि इसमें स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि श्रम कानून में घरेलू काम को जोड़ना अनिवार्य है। अगर घरेलू कामगर और श्रम के भिन्न चरित्रों के कारण ऐसा संभव नहीं है तो कानून में संशोधन लाया जाएगा। दूसरी ओर अगर कानून पारित होने के बावजूद घरेलू कामगरों के हित ध्यान में नहीं रखे जाते तो एक नया कानून बनाने की आवश्यकता पड़ेगी।" उन्होंने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि राष्ट्रीय सलाहकार समिति, टास्क फ़ोर्स व व्यापार संघ का साझा मत है कि घरेलू काम व कामगर श्रम कानून के तहत शामिल किए जाने चाहिए।

चूंकि कानून बनाने की प्रक्रिया लम्बी व जटिल है और घरेलू कामगरों के लिए कोई तात्कालिक कदम उठाने की आवश्यकता है इसलिए इस समय नीति निर्माण ही उचित है।

घरेलू कामगर नीति का उद्देश्य

घरेलू कामगरों के संवैधानिक अधिकार सुनिश्चित करने के लिए केंद्रीय और राज्य सरकारों की भूमिका अहम है। नीति का मुख्य उद्देश्य है काम के अधिकार को बढ़ावा देना तथा कामगरों के मानवाधिकारों व मौलिक अधिकारों की सुरक्षा। इसके अतिरिक्त घरेलू काम को अधिकार आधारित नज़रिए से देखते हुए इस श्रम की गरिमा व सम्मान का दर्जा प्रदान करने का प्रयास भी इस नीति के माध्यम से किया जाएगा।

इस नीति की रूपरेखा में निम्न कानूनों का भी हवाला दिया गया है, जो अन्य वर्ग के श्रमिकों के हित के लिए उपयोग किए जाते हैं।

उल्लेख किया गया है कि ज़रूरत पड़ने पर इन कानूनों में संशोधन करके घरेलू कामगरों के हित भी शामिल किये जा सकते हैं।

- कामगर क्षतिपूर्ति अधिनियम 1923
- व्यापार संघ अधिनियम 1926
- मज़दूरी के भुगतान अधिनियम 1936
- न्यूनतम वेतन अधिनियम 1948
- मातृत्व लाभ अधिनियम 1961
- संविधा श्रम (विनियमन और उन्मूलन) अधिनियम 1970
- समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976
- अंतर्राज्यीय प्रवासी कामगर (रोज़गार और सेवा की शर्तों का विनियमन) अधिनियम 1979

इसके साथ-साथ यह नीति 'घरेलू कामगर' को इस प्रकार परिभाषित करती है, *"कोई भी ऐसा व्यक्ति जो सीधे तौर पर या नियोजन एजेंसी के द्वारा, किसी घर में नियमित अथवा अनियमित रूप से पैसे या वस्तु के बदले घरेलू काम करता/करती हो। ये व्यक्ति किसी भी रूप में मालिक के परिवार के सदस्य नहीं होने चाहिए।"* नीति में घरेलू कामगरों को तीन श्रेणियों में भी विभाजित किया गया है।

- अंशकालिक— तयशुदा घटों के लिए कार्यरत।
- पूर्णकालिक— पूरे दिन का काम करने वाले जो रात को अपने घर वापस लौट जाते हों।
- तीसरा वर्ग उन कामगरों का होता है जो रात-दिन मालिक के घर रहते हुए घरेलू काम करते हैं।

इस नीति के प्रमुख केंद्र बिन्दु निम्न हैं:

- मौजूदा श्रम कानून के तहत घरेलू कामगरों को शामिल किया जाएगा तथा आवश्यकतानुसार उनके हितों की सुरक्षा के लिए कानून में संशोधन किए जा सकते हैं।
- घरेलू कामगरों को राष्ट्र श्रम विभाग व अनौपचारिक क्षेत्र कामगर अधिनियम के अंतर्गत पंजीकरण का अधिकार है।
- अपने हक़ों को पाने के लिए घरेलू कामगर संगठन, यूनियन या संघ गठित कर सकते हैं।
- घरेलू कामगरों को न्यूनतम वेतन, वेतनयुक्त स्वास्थ्य अवकाश व अन्य सामाजिक सुरक्षाएं दी जाएंगी।
- विदेश में काम करने वाले श्रमजीवियों को प्रवासी अधिकारों की जानकारी दी जानी चाहिए। इसके अलावा प्रवास से पहले भारतीय विदेश मंत्रालय से उपयुक्त प्रशिक्षण दिया जाना भी आवश्यक है। श्रम विभाग भी विदेश मंत्रालय के साथ मिलकर कामगर के लिए लिखित अनुबंध तैयार करने की प्रक्रिया जारी करेगा।
- राज्य सरकार की ज़िम्मेदारी है कि वह घरेलू कामगरों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करे। फिलहाल राज्य सरकारें घरेलू काम को राष्ट्रीय कौशल विकास पहल में बतौर व्यवसाय शामिल करने पर ज़ोर दे रही हैं।
- नियोजन एजेंसियों को अनिवार्य रूप से *दुकान व वाणिज्य प्रतिष्ठान अधिनियम 1953* के तहत अपना पंजीकरण करवाना होगा। केंद्रीय सरकार इन एजेंसियों को नियंत्रित करने के लिए एक कानूनी तंत्र की स्थापना करेगी जो निष्पक्ष तरीके से घरेलू कामगरों के हक़ों को महफ़ूज़ रखेंगे।
- घरेलू कामगर काम संबंधी विवादों के निवारण के लिए स्वयं या अपने प्रतिनिधि के ज़रिए अदालत में शिकायत दर्ज कर सकते हैं। श्रम व रोज़गार मंत्रालय घरेलू कामगरों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए उपयुक्त व्यवस्था प्रदान करेगा, जहां सामाजिक सुरक्षा के साथ-साथ शोषण, हिंसा व उत्पीड़न से भी प्रतिकार मिल सकेगा। यह तंत्र नियोजन एजेंसियों व कामगरों के बीच विवादों में भी मध्यस्थता करेगा।
- श्रम व रोज़गार मंत्रालय घरेलू कामगरों के अधिकारों व शर्त रहित रोज़गार के हक़ पर सार्वजनिक जागरूकता बढ़ाने के लिए ठोस कदम उठाएगा। मंत्रालय रोज़गार संबंधी जानकारियां मुहय्या करवाने में भी मदद करेगा।

नीति का कार्यान्वयन

राष्ट्रीय घरेलू कामगर नीति को लागू करने की ज़िम्मेदारी श्रम व रोज़गार मंत्रालय की है। मंत्रालय महिला व बाल कल्याण मंत्रालय, कामगर व मालिक संगठन तथा अन्य

पणधारियों के प्रतिनिधियों की एक समिति का गठन करेगा जो नीति के कार्यान्वयन व निगरानी का दायित्व उठाएगी। राज्य स्तर पर भी एक ऐसा ही तंत्र घरेलू कामगरों के हितों की सुरक्षा के लिए बनाया जाएगा।

ये समितियां तीन महीने के अंदर इस नीति को लागू करने की रणनीतियों पर एक रिपोर्ट प्रस्तुत करेंगी। इसके अलावा राज्य स्तरीय त्रिपक्षीय संस्थागत तंत्र अपनी गतिविधियों की वार्षिक रिपोर्ट भी राष्ट्रीय समिति को प्रस्तुत करेगा जिसे राष्ट्रीय रिपोर्ट में शामिल किया जायेगा।

अंत में सबसे महत्वपूर्ण सवाल यह है कि क्या घरेलू कामगार राष्ट्रीय नीति वास्तव में लागू हो पाएगी या फिर अन्य सरकारी नीतियों की तरह यह महज़ कागज़ों तक सीमित होगी?

घरेलू कामगरों की सक्रिय कार्यकर्ता व टास्क फ़ोर्स सदस्य गीता मेनन का मत है कि नीति के कार्यान्वयन के लिए घरेलू कामगरों का संगठित होना बहुत ज़रूरी है। असंगठित क्षेत्र के इन सभी श्रमजीवियों को अपने संगठनों को सशक्त बनाकर सरकार पर दबाव बनाए रखना होगा। नीति तो केवल सरकार का ध्यान अपने मुद्दों पर खींचने का ज़रिया है। अपने हकों और मानवधिकारों को साकार करने की दिशा में सशक्त कानून ही एकमात्र रास्ता है।

चैताली *जागोरी की कार्यकर्ता हैं।*

नया प्रकाशन

घरेलू कामगरः हक़ व गरिमा

जागोरी नोटबुक 2013

हम एक बार फिर हाज़िर है *जागोरी* की नई नोटबुक *घरेलू कामगरः हक़ व गरिमा* के साथ। इस बार हम रूबरू हो रहे हैं उन औरतों से जिन्हें हम 'बाई', 'मोलकरणी', 'कामवाली' के नाम से बुलाते हैं। हमारे घरों में झाडू-पोंछा, खाना-बर्तन करने वाली ये महिला कामगर हमारी ज़िंदगी से इस कदर जुड़ी होती हैं कि इनके बिना जीने की हम कल्पना भी नहीं कर पाते। ये हमारी भाग-दौड़ वाली ज़िदंगी में धुरी का काम करती हैं। सुबह से लेकर रात तक मशीन की तरह भागती, हांफ़ती हमारे ही जैसी इन औरतों के साथ मिल-बैठ कुछ रचने-गढ़ने-मांढ़ने-बतियाने का प्रयास है यह नोटबुक।

वैसे तो हम सभी जानते हैं कि एक घरेलू कामगर की ज़िदंगी गरीबी, जद्दोजेहद और मजबूरी के साये में घिरी रहती हैं। पर इस सच्चाई का एक दूसरा पहलू भी है। ये एक सशक्त मेहनतकश औरत है जो अपने खून-पसीने की कमाई से परिवार का बोझ उठाती है। पर खुद आधे-पेट खाकर अपने बच्चों और परिवार वालों के जीवन में खुशहाली लाने वाली ये कामगर आखिर हमसे क्या चाहती हैं? अपनी मेहनत देखभाल और प्यार के बदले बस उम्मीद करती है सम्मान और अपनेपन की। वह चाहती है कि उसके काम को सही दाम, नाम और मान मिले।

इस नोटबुक के पन्नों में हम घरेलू कामगर की औरताना पहचान के साथ-साथ एक श्रमिक की पहचान को भी उभारने की कोशिश कर रहे हैं। कविताओं, अनुभवों, चित्रों और लेखों के ज़रिए घरेलू काम को श्रम का दर्जा और कामगर को गरिमा, पहचान और मान देने-दिलाने की ओर ये हमारी पहल-कदमी है। हम उम्मीद करते हैं कि इस नोटबुक के माध्यम से हम कुछ ऐसी चाहतों, मनाहियों, एहसासों को आप के साथ बांट पाएंगे जिससे हम कभी न कभी टकराते तो हैं पर जिनको स्वीकारने और संवारने का हौसला अभी जुटाना बाकी है।

प्रतियां मंगवाने के लिए संपर्क करेंः
महावीर सिंह, जागोरी
फ़ोनः 011-26691219/20 • distribution@jagori.org

लेख

महिलाओं के उत्तराधिकार हक़

मधु किश्वर व रूथ वनिता

1956 में हिन्दू उत्तराधिकार कानून पर संसद में बहस के दौरान श्रीमती उमू स्वामिनाधन ने इस कानून की वकालत और महिलाओं के लिए समान उत्तराधिकार हक़ की मांग करते हुए कहा, "मैं चाहूंगी की माननीय सदस्य केरल की तरफ ध्यान दें....अगर आप केवल इस पर गौर करें कि इतने वर्षों में वहां क्या हुआ है और क्या हो रहा है तो मुझे विश्वास है कि आप इस बात से सहमत होंगे कि.... उनके समान अधिकार होने से इस देश में कुछ भी अनर्थ नहीं होगा।"

फिर भी आज तक कितने लोग सोचते हैं कि औरत के समान उत्तराधिकार होने से कुछ गलत हो जाएगा। आज भी महिलाओं के समान विरासत अधिकार का विरोध करते हुए वही पचास साल पुरानी दलीलें पेश की जाती हैं। खैर इस कानून के पास होने से महिलाओं को माता-पिता की जायदाद में असमान अधिकार मिले पर वे भी सिर्फ़ कागज़ तक सीमित रहे। आज भी हमें औरतों के विरासत अधिकारों के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है क्योंकि हमारे देश की अधिकांश महिलाओं को पैतृक सम्पत्ति से वंचित रखा जा रहा है। अपने इस लेख में हम कुछ ऐसी बातों पर रोशनी डालेंगे जिसके कारण औरतें उत्तराधिकार हक़ों को पाने से महरूम रही हैं।

भूमि विखण्डन

भारत में खेती की ज़मीन आमदनी का प्रमुख साधन है। हिन्दू उत्तराधिकार कानून महिलाओं को पैतृक सम्पत्ति में अधिकार नहीं देता जिसके कारण कृषि भूमि में भी उनका हिस्सा नहीं होता। राज्य के प्रशासन ने भी औरतों की जमीन पर मिल्कियत के रास्ते में अनेक कानूनी अड़चनें पैदा की हैं। आम धारणा यह है कि औरतों को परिवार की ज़मीन में भागीदारी देने से ज़मीन का अत्यधिक विखण्डन होगा जो आर्थिक रूप से फायदेमंद नहीं है। पर कोई भी यह दलील नहीं देता कि सभी बेटों को भूमि अधिकार देने से भी अधिक विखण्डन होगा और इसलिए केवल परिवार के बड़े बेटे को ज़मीन पर हक़ मिलना चाहिए।

औरतों को ज़मीन पर अधिकार न देना भूमि विखण्डन की समस्या का हल नहीं है। भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटने का कारण है ज़मीन पर अत्यधिक बोझ। बढ़ती जनसंख्या के कारण परिवार के ज़्यादातर लोग अपनी आजीविका चलाने के लिए ज़मीन पर निर्भर हैं जिससे अर्थव्यवस्था असंतुलित होती है। ग्रामीण इलाकों में कृषि के प्रति बेरुखी तथा खेती से पैदा हुई अतिरिक्त उपज का शहरी अमीरों के फायदे के लिए इस्तेमाल, ज़मीन पर आश्रित किसानों की तकलीफ़ें बढ़ाता है।

इस समस्या का कुछ हल भूमि सुधार कार्यक्रमों को ईमानदारी से लागू करने, कृषि को अधिक सक्षम बनाने के तरीकों तथा ग्रामीण गरीबों को वैकल्पिक रोज़गार साधन मुहय्या कराने से निकल सकता है। औरतों को ज़मीन पर उत्तराधिकार हक़ न देकर हमें उन्हें सत्ताहीन गरीब वर्ग से भी अधिक गरीब और अरक्षित बना रहे हैं। अगर एक ज़मीन का टुकड़ा तीन बेटों में बांटा जा सकता है तो कोई वजह नहीं है कि वह एक बेटी व दो बेटों के बीच न बांटा जा सके।

लड़कियां पराया धन होती हैं

एक दूसरी मशहूर दलील है कि बेटियां ब्याह कर ससुराल चली जाती है और पैतृक ज़मीन पर खेती नहीं कर पातीं। वे माता-पिता के व्यवसाय व घर दोनों से दूर रहती हैं लिहाज़ा सम्पत्ति पर उसके भाइयों का हक़ बनता है। दूसरी ओर लड़की अपनी ससुराल को अपना घर बना लेती है इसलिए मां-बाप की जायदाद पर उसका अधिकार नियंत्रित

होना चाहिए। इस दलील का अर्थ यह है कि शादी, ससुराल जाना और घर-गांव से दूर होना लड़कियों के लिए अनिवार्य है। पर हमारे देश में हर समुदाय के नियम-रिवाज भिन्न हैं। कुछ आदिवासी समुदायों में औरतें कुंवारी रहकर अपने मां-बाप के साथ खेती करती हैं। कुछ समुदायों में शादी के बाद लड़की का पति उसके मायके में आकर रहता है।

कुछ और तबकों में औरतें अपने ही गांव या पास के गांव में ब्याही जाती हैं। पर यही दलील देकर उन्हें भी उत्तराधिकार हक़ नहीं दिए जाते। बेटों का शहरों में पलायन या शहर से बाहर जाकर नौकरी करना या विदेश में जाकर पढ़ाई करना भी एक आम बात है। पर क्या वे पैतृक सम्पत्ति पर अपना अधिकार छोड़ देते हैं, नहीं? बल्कि इस अधिकार के दबाव में आकर वे अपने हिस्से की ज़मीन किराए पर उठा देते हैं। छुट्टियों में या सेवानिवृत होने के बाद वे अपनी ज़मीन पर वापस आकर बस जाते हैं। ज़मीन पर यह हक़ उनको आर्थिक व भावनात्मक सुरक्षा प्रदान करता है।

ज़मीन को लेकर कोई भी अहम निर्णय दूर रह रहे बेटे से सलाह-मश्विरा करके लिया जाता है जबकि पास में रहने वाली बेटी को दूसरे परिवार का सदस्य मानकर नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है।

दर्जे में यह फ़र्क़ समाज में औरत की सत्ताहीनता दर्शाता है। यह मानना मूर्खतापूर्ण होगा कि अपने परिवार से बेदखल की गई बेटी को ससुराल में पूरा सदस्य होने का रुतबा हासिल होगा। बहू व बेटी की यह सत्ताहीनता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक ऐसी संस्कृति जो बचपन से ही बेटी को 'पराया धन', 'मेहमान' आदि संज्ञाओं से सम्बोधित करती है वह बहू को भी धन-दौलत लाने वाली के रूप में ही मापती है। 'दुल्हन ही दहेज है' का नारा ससुराल में गूंजता तो है परन्तु बहू द्वारा लाये धन-उपहारों पर मिल्कियत उसके ससुरालवालों की होती है।

एक औरत जिसके पास मायके की सम्पत्ति पर अधिकार होगा वह अपने पति व ससुराल पक्ष से सशक्त होकर बात कर सकती है। वह एक निरीह प्राणी की जगह एक सबल व्यक्ति के रूप में जीवन निर्वाह कर सकेगी। जो माता-पिता बेटी को बेटों के समान दर्जा नहीं देते वह इस बात की कत्तई उम्मीद नहीं रख सकते कि उनकी बेटी को ससुराल में बराबरी का दर्जा और सम्मान मिलेगा।

बेटे बुज़ुर्ग माता-पिता की देखभाल करते हैं

इसका सीधा अर्थ है कि चूंकि बेटे बुढ़ापे में मां-बाप की देखभाल करते हैं इसलिए उन्हें जायदाद मिलनी चाहिए। पर यह तात्पर्य कि सम्पत्ति देखभाल के एवज़ में बेटों को मिलने वाला हक़ है, सही नहीं है। अगर मां-बाप की देखरेख उनके अपने बनाए व्यवसाय, जायदाद या पैसों से हो रही हो तो क्या यह दलील मायने रखती है? बेटियों के पास देखभाल का साधन हो तो क्या वे भी अपने माता-पिता की ज़िम्मेवारी नहीं उठा सकेगीं? आजकल काफी महिलाएं नौकरी करके अपने माता-पिता, परिवारों की आर्थिक मदद कर रही हैं। जो औरतें घर का काम, खेती या अन्य तरह से परिवार में योगदान देती हैं क्या उन्हें अपने माता-पिता को सहयोग देने का हक़ नहीं मिलना चाहिए?

दूसरी अहम बात-बुज़ुर्गों की देख-रेख में आर्थिक सहयोग के साथ-साथ सेवा-टहल, खान-पान और भावनात्मक प्यार-दुलार भी अहम होता है जो भूमिका औरतों यानी बहू या बेटी की होती है। बहू से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने मां-बाप की देखभाल न करे बल्कि प्यार और भावना के साथ सास-ससुर की सेवा करे।

कई बूढ़े माता-पिता अपनी बेटी के प्यार व देखभाल की ज़रूरत महसूस करते हैं। पर यह विडम्बना ही तो है कि एक ओर लड़की को उन रिश्तों को भूलना पड़ता है जिनके साथ वह पली-बढ़ी है और दूसरी ओर उसे एक अजनबी परिवार और उसके सदस्यों को दिल से अपनाना पड़ता है। परिवार के इस ढांचे के चलते घर-घर में तनाव, कुंठा और तकलीफ़ का माहौल बन जाता है।

मौजूदा ढांचे में बूढ़ी मां के पास भी जायदाद पर कोई अधिकार नहीं होते- वह अपने बेटों पर आश्रित हो जाती है। इस सम्पत्ति के विभाजन में बुजुर्ग माता-पिता या औरतें चाहे वह बेटी, बहू या मां हो का पूरा दायित्व बेटों पर होता है। अगर बेटे उनके साथ अच्छा व्यवहार न करें तो माता-पिता या औरतों के पास कोई विकल्प नहीं होते। हमारे भारतीय साहित्य में बूढ़े मां-बाप के उत्पीड़न, मायूसी और दुख के अनेकों किस्से हैं।

यह भी दलील दी जाती है कि विवाहित बेटी द्वारा माता-पिता की देखभाल हमारी संस्कृति के विरुद्ध है। हमारे समाज में बेटी की ससुराल में खाना-पीना वर्जित है। यह

रिवाज बेटियों को और अधिक कमतर और सत्ताहीन बनाता है। जो औरत अपनी मर्ज़ी से मेहमान-नवाज़ी नहीं कर सकती वह ससुराल की जायदाद में हक़ की मांग कैसे कर सकती है?

पर हमारे ही देश के दक्षिणी हिस्से में अभी भी बूढ़े माता-पिता अपनी विवाहित बेटियों के साथ रहना पसंद करते हैं न कि बेटों के साथ।

अगर माता-पिता की मृत्यु के बाद जायदाद का बंटवारा समान रूप से बेटे व बेटी में किया जाए तो किसी एक के लिए पूरी जायदाद पर कब्ज़ा करना और फिर माता-पिता को बेकार का बोझ मानकर दुर्व्यवहार करना संभव नहीं होगा। इसका यह भी फ़ायदा होगा कि मां-बाप अपनी मर्ज़ी से उसके पास रहेगें जहां उन्हें प्यार और आदर मिलेगा या फिर बारी-बारी से बच्चों के पास रह लेंगे। कहने का मतलब यह है कि माता-पिता किस बच्चे के पास रहेंगे यह उसके लिंग या जायदाद से तय नहीं होगा बल्कि आपसी सहमति और रिश्तों के आधार पर निश्चित होगा।

भाई-बहन के बीच प्यार खत्म हो जाएगा

बेटियों को जायदाद न देने के पीछे यह भी तर्क दिया जाता है कि इससे ईर्ष्या, कोर्ट-कचहरी जैसी बातों को बढ़ावा मिलेगा जिससे भाई-बहन के बीच प्यार नष्ट हो जाएगा। यह तर्क अटकलों पर आधारित है। भाई-भाई, बहन-भाई या बहन-बहन के बीच संबंध हमेशा अच्छे या बुरे नहीं होते और केवल बहन को हक़ देने से प्यार भरे संबंध खत्म हो जाएंगे कहना सही नहीं है। अगर रिश्ता इसलिए खूबसूरत है क्योंकि वह असमानता पर टिका है तो इस पर सवाल उठाना ज़रूरी है।

बहनों की अपनी ससुराल में इज़्ज़त इस बात पर टिकी रहती है कि उसके भाई उसे कितनी बार बुलाते हैं या उपहार देते हैं। यह व्यवहार इस बात का प्रमाण होता है कि लड़की अकेली नहीं है और उसके साथ मनमाना दुर्व्यवहार नहीं किया जा सकता। लड़कियां सत्ताहीनता और असुरक्षा के चलते भाइयों पर निर्भर रहती हैं। एक विवाहित लड़की अपनी बहन से भी आसानी से आर्थिक मदद या आश्रय नहीं मांग सकती। पर भाई का अपने परिवार में दर्जा ऐसा नहीं है। वह अपनी पत्नी पर उस तरह आश्रित नहीं होता जिस तरह उसकी बहन अपने पति पर निर्भर होती है। यानी समाज में बहन-भाई के बीच संबंध पुरुष की सत्ता और स्त्री की सत्ताहीनता पर आधारित हैं। इसके चलते भाई को हमेशा अपनी बहन को देना ही पड़ता है जिसके कारण भाभियों से मन मुटाव बढ़ता रहता है। इस लेन-देन का बोझ एक सहज दोस्ती और प्यार का रिश्ता पनपने नहीं देता।

अगर विरासत का बंटवारा समान रूप से हो तो भाइयों-बहनों के बीच एक बराबरी का रिश्ता बनेगा और ज़रूरत पड़ने पर दोनों एक दूसरे की सहायता कर सकेंगे।

दहेज बेटी का हिस्सा होता है

दहेज को बेटी का सम्पत्ति में हिस्सा नहीं समझा जा सकता क्योंकि जायदाद की तरह इस पर लड़की का पूर्ण नियंत्रण नहीं होता। इसके अतिरिक्त जायदाद बेटे की आजीविका और आत्म-निर्भरता को सशक्तता प्रदान करती है जबकि दहेज ससुरालवालों को लड़की को सुखी रखने की रिश्वत की तरह काम करके पति व ससुराल वालों पर उसकी निर्भरता को बढ़ाता है। दहेज के कारण लड़की को हिंसा-दुर्व्यवहार सहना पड़ता है क्योंकि ससुराल पक्ष का लालच बढ़ता जाता है।

लड़की को दुगुनी जायदाद मिलेगी

लड़कियों को जायदाद से अलग रखने के पीछे दी जाने वाली एक दलील यह भी है कि अगर उन्हें उत्तराधिकार हक़ दिए जाएं तो उन्हें दुगुनी जायदाद मिलेगी— पिता व पति से। पर अगर ऐसा हुआ तो पुरुषों को भी अपने पिता व पत्नी की जायदाद मिल सकेगी। हमारे देश में देखा गया है कि पुरुष अपनी पत्नियों की तुलना में अधिक लम्बी उम्र तक जीवित रहते हैं और पत्नी की मृत्यु के पश्चात उसकी सम्पत्ति उन्हें मिल जाती है।

कानूनी प्रावधान यह होना चाहिए कि अगर किसी महिला की अकाल या अप्राकृतिक मृत्यु हो जाए तो उसके माता-पिता की जायदाद से मिला उसका हिस्सा उसके पति को न मिले। वह उसके बच्चों में समान रूप से विभाजित हो या फिर उसके माता-पिता को वापस लौटा दिया जाए।

औरतें सम्पत्ति की देखभाल नहीं कर पातीं

ऐसा माना जाता है कि चूंकि औरतों के पास सम्पत्ति की देखभाल करने के अनुभव कम होते हैं इसलिए केवल जायदाद होने से उन्हें फायदा नहीं होगा। वैसे भी औरत की जायदाद की देखभाल उसके पति, भाई या अन्य सदस्य करते हैं। यह तर्क कुछ हद तक सही है। एक अरक्षित और बेदखल वर्ग अचानक अपने हक़ों की सुरक्षा करने की क्षमता विकसित नहीं कर सकता। धीरे-धीरे ही वे अपने संसाधनों पर नियंत्रण कर पायेगें। पर सिर्फ़ इस कारण से उन्हें विरासत से वंचित रखना सही नहीं होगा। केरल के अनुभव से हमने देखा है कि जायदाद मिलने से औरत की स्वायत्तता, आवाजाही और दर्जे में काफ़ी बेहतरी होती है।

सम्पत्तिहीन वर्ग क्या करे?

महिलाओं के उत्तराधिकार हक़ का विरोध यह भी कहकर किया जाता है कि यह बहस सिर्फ़ उस वर्ग के लिए है जिनके पास सम्पत्ति होती है। सच यह है कि जायदाद से हमारे मायने उन सभी चीज़ों से है जिससे इंसान को सशक्तता मिल सकती है।

धन के अलावा ज़मीन का एक छोटा सा टुकड़ा, मवेशी, पेड़, वाहन, लघु उद्योग आदि इस श्रेणी में आते हैं। कई दफ़ा कोई नौकरी बाप के बाद बेटे को दी जा सकती है या फिर कोई छोटा सा मकान, झुग्गी भी परिवार के पास होती है। नौकरी में आरक्षण, शैक्षिक आरक्षण आदि जैसे फायदे भी अधिकतर परिवार के मुखिया को सुपुर्द किए जाते हैं जिससे वह सबकी देखभाल कर सके। पर सच तो यह है कि यह रिवाज पुरुष और स्त्री के बीच असमानता को और बढ़ाता है। दादा अपने बेटे और बेटा अपने बेटे को ये वस्तुएं देता है। बेटियों को कुछ नहीं मिलता।

अगर हम औरतों के हालात बेहतर बनाने के लिए प्रतिबद्ध हैं तो हमें प्रयास करना होगा कि परिवार की मिल्कियत और सुविधाएं उनके हिस्से में भी आएं। हमने देखा है कि औरतें अपनी आय का बड़ा हिस्सा परिवार के ऊपर खर्च कर देती हैं। विरासत और जायदाद के बंटवारे के नियम बदलकर हम अपने समाज, परिवार और संस्कृति को और अधिक समान बना पाएंगे।

बेटियों को महरूम करने वाली वसीयत अवैध होगी

हमारे समाज में जहां लड़कियों को लिंग के आधार पर जायदाद से महरूम किया जाता है वहां ज़रूरी है कानूनी तौर पर बेटियों को सम्पत्ति में हिस्सा न देने वाली वसीयत को अवैध करार दिया जाए। कुछ लोगों ने यह डर ज़ाहिर किया है कि ऐसा करने से लड़कियों पर हिंसा और स्त्री भ्रूण हत्या को बढ़ावा मिलेगा। हो सकता है कि ऐसा हो परन्तु हमारे विचार में परिवार जायदाद से लड़कियों को वंचित रखने के लिए अलग रास्ते इख्तियार करेंगे। मौजूदा आंकड़े यह बताते हैं कि स्त्री भ्रूण हत्या और लड़कियों की बचपन में कम देखभाल से मृत्यु उन समुदायों में अधिक होती है जहां वे बोझ समझी जाती हैं। उन तबकों में जहां बेटियों को उत्तराधिकार का हक़ है उन्हें सम्मान और पूरा इंसान समझा जाता है। केरल का उच्च लिंग दर इसका प्रमाण है।

अंत में हम यही कहना चाहेंगे कि हालांकि कानूनी रूप से इस विचार का कार्यान्वयन आसान नहीं है परन्तु ज़रूरी है कि राज्य महिलाओं को समान उत्तराधिकार अधिकार दिलाने के प्रति अपनी वचनवद्धता को दिखाए। इसके लिए असमान कानूनों में संशोधन तथा लड़कियों को जायदाद में समान अधिकार देने वाले कानून बनाये जाएं। इनसे उन औरतों को भी अपने उत्तराधिकार पाने में सहायता मिलेगी जिन्हें धोखे, ज़बरदस्ती या फिर कानूनी तौर पर जायदाद से बेदखल कर दिया गया है। कानून और राज्य की मदद से औरतें अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर सकेंगी।

औरतों के साथ-साथ इन प्रयासों से पुरुषों के जीवन में भी बेहतरी आएगी। वे अपनी बहन-बेटियों के ब्याह की ज़िम्मेदारी उठाने की जीवन भर की परेशानी से मुक्त हो जाएंगे। ससुराल में लड़की को मान भी मिलेगा जिससे पिता-भाई को उनकी देखभाल और लेन-देन से राहत मिलेगी।

हम यह दावा नहीं कर रहे कि सम्पत्ति में हिस्सा कोई जादुई छड़ी है जिसे पाकर महिला सशक्त बन सकती है। पर हम यह ज़रूर मानते हैं कि जायदाद समानता और स्वतन्त्रता की राह पर मज़बूत सहारा बन सकती है।

मधु किश्वर व रूथ वनिता *मानुषी की सदस्य हैं।*
वे महिला संबंधी मुद्दों पर तीन दशकों से लिख रही हैं।
साभारः मानुषी अंक 57

लेख

भ्रांतियो के घेरे में
मुसलमान महिलाओं के हक़

फ्लेविया एग्निस

न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर, जो *भारतीय मुस्लिम कानून* के विशेषज्ञ माने जाते हैं ने अपने एक फ़ैसले के दौरान कहा था— "इस्लामी कानून की गुनाह से भी ज़्यादा मुखालफ़त होती है।" और जैसे-जैसे हम मुसलमान महिलाओं के अधिकारों का गहन अध्ययन करते हैं वैसे-वैसे इस कथन की सच्चाई हमारे समाने आती जाती है।

सत्रहवीं सदी में पैगम्बर साहब ने निकाह को एक अनुबंध का दर्जा देते हुए इसमें औरत की रज़ामंदी की बात की थी। इसके विपरीत हिंदू विवाह कानून के तहत स्त्री को एक सम्पत्ति का दर्जा दिया गया है जिसको दान स्वरूप (कन्यादान) दूल्हे को सौंप दिया जाता है। निकाह में औरत की सुरक्षा का ध्यान रखते हुए मेहर की रकम को विवाह के समय औरत के नाम करने की भी बात की गई है। जबकि हिंदू विवाह में दहेज प्रथा का चलन है जो औरत के दोयम दर्जे का पुर्नस्थापित कर देती है। निकाह चूंकि एक अनुबंध है उसे तोड़ा जा सकता है और इसलिए एक मुसलमान लड़की के नैहर में अधिकार महफूज़ रहते हैं। एक हिन्दू लड़की विवाह के बाद अपने पति के परिवार का नाम अपनाती है और शादी होते ही मायके में उसके हक़ खत्म हो जाते हैं। मुसलमान महिलाएं अपने निकाहनामे में अपनी शर्तें दर्ज कराने का हक़ रखती हैं जिन्हें अदालत में वैधता प्रदान की जाती है। पैगम्बर साहब ने मुसलमान महिलाओं की सम्पत्ति में भी एक नियत हिस्सा पाने का अधिकार दिया था और यह हिदायत भी की थी कि वह अपना पूरा अधिकार किसी और के लिए या किसी के कहने पर नहीं छोड़ेगी क्योंकि यह कुरान द्वारा मिले विरासत के अधिकार का उल्लंघन होगा।

इनमें से अधिकतर हक़ एक ख्वाब की तरह ही लगते हैं क्योंकि कुरान में दर्ज व्यवस्था को उपनिवेशी और समकालीन दौर में अनेकों बार उलट-फेर किया गया है।

पर 1875 के *पूनो बीबी बनाम पुक्स पख्श* मामले का हवाला देते हुए मैं यह उजागर करना चाहूंगी कि किस तरह औरतें निकाहनामे में अपनी शर्तों को दर्ज करा सकती थीं और साथ ही उनको अदालत में किस प्रकार कानूनी मान्यता दी जाती थी।

"पति (पुक्स पख्श) ने अपनी पत्नी (पूनो बीबी) को दस रुपये माहवार गुज़ारा भत्ता देने के साथ निम्न शर्तों को पूरा करने की भी हामी भरीः

- *मैं तुम्हें खाने-पीने व कपड़ों के लिए कभी परेशान नहीं करूंगा।*
- *मैं अपनी पूरी कमाई तुम्हारे हवाले करूंगा।*
- *मैं तुम्हारे साथ किसी भी प्रकार हिंसा नहीं करूंगा।*
- *मैं तुम्हारे घर से तुम्हें कभी बेघर नहीं करूंगा।*
- *मैं तुम्हारी इजाज़त के बगैर कभी निकाह नहीं करूंगा।*
- *मैं तुम्हारी मर्ज़ी के बगैर कोई काम नहीं करूंगा।*

अगर मैं तुम्हारी रज़ामंदी के बगैर कुछ करूं तो तुम मुझे तलाक़ देने के लिए आज़ाद होगी। ऐसी स्थिति में मैं तुम्हें मेहर की रकम अदा करूंगा और इस निकाह को खारिज़ समझूंगा।"

उपरोक्त निकाहनामा ठीक वैसा ही है जैसा कोई भी लड़की शादी से पहले अपने नाम लिखवाना चाहेगी। कुछ दिनों के बाद पूनो बीबी का पति उसे छोड़कर चला गया। अदालत में पूनो बीबी ने अपने निकाहनामे को आधार बनाकर अपने पति की चालीस रुपये माहवार की तनख्वाह और 568 रुपये की बचत पर अपना दावा पेश किया। पति के वकील ने सुनवाई में कहा कि पूनो बीबी का दावा सार्वजनिक नीति के विरूद्ध था और इसे अदा करने पर पुक्स पख्श की हालत एक दास की तरह हो जायेगी। अदालत ने इस दलील को न मानते हुए पति को दस रुपये

माहवार गुज़ारा भत्ता अदा करने का फ़ैसला सुनाया।

इस केस के ज़रिये मैं यह समझाने की कोशिश कर रही हूं कि इस्लामी कानून किस प्रकार महिलाओं की सुरक्षा करता है जबकि हिंदू अथवा अंग्रेज़ी कानूनी व्यवस्था मे यह सुरक्षा निहित नहीं है। पर अफ़सोस यह है कि 1985 के शाहबानो केस व और *मुसलमान महिलाओं की सुरक्षा कानून 1986* के बनने के बाद मीडिया ने हमेशा यह दर्शाया है कि शरियत कानून में औरतों का कोई हक़ नहीं होते। इसके अलावा यह भी कहा जाता रहा है कि तलाक़ के तीन महीने के बाद मुसलमान महिला कोई भी गुज़ारा खर्च पाने का हक़ नहीं रखती और इस लिहाज़ से उसकी सुरक्षा हिन्दू महिला की तुलना में नगण्य है।

इसके साथ-साथ हम सामुदायिक नेताओं द्वारा मुसलमान महिलाओं के अधिकारों के हनन के किस्से रोज़ाना सुनते रहते हैं। उदाहरण के लिए इमराना के मामले को सनसनीखेज़ बनाते हुए मीडिया में यह दिखाया गया कि शरियत के अनुसार ससुर द्वारा बलात्कार किए जाने के बाद इमराना का अपने पति के साथ कोई भी संबंध नहीं हो सकता।

इस प्रकार की नकारात्मक घटनाओं को सुनकर हम इस बात को बिल्कुल भुला देते हैं कि कई मुसलमान महिलाओं ने अदालत में अपने हक़ के लिए संघर्ष किया है और महत्वपूर्ण अधिकार पाए हैं। ऐसा लगता है कि *शाहबानो केस* के बाद मुसलमान महिलाओं ने अदालत का दरवाज़ा छोड़कर काज़ी के पास जाकर 'खुला' की रज़ामंदी हासिल करनी शुरू की है जिसके लिए उन्हें अपनी मेहर की रकम और बच्चों की हिरासत का अधिकार गंवाना पड़ता है।

इस प्रकार की चयनात्मक रिर्पोटिंग जिसमें साम्प्रदायिकता का पुट हो मुसलमान महिलाओं के अधिकारों की तोड़ी-मरोड़ी तस्वीर प्रस्तुत करती है। उदाहरण के लिए अधिकांश लोग इस बात से अनजान हैं कि *2001 दानियल लतीफी बनाम भारत सरकार* मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने इद्दत की अवधि के दौरान गुज़ारा खर्चा व जीवन भर के लिए एक अच्छी-खासी रकम पाने के अधिकार को जायज़ मानते हुए महिला के पक्ष में फ़ैसला सुनाया। इस निर्णय के कारण उस महिला को अपने गुज़ारे के लिए एक बड़ी रकम मिली। हिन्दू महिलाओं के पास इस तरह का खर्चा पाने का कोई अधिकार नहीं होता। 1986 के फ़ैसले के बाद हर वर्ष बड़ी संख्या में मुसलमान औरतें इस अधिकार को पाने के लिए अदालत तक जाती हैं। अदालत ने इस फ़ैसले की संवैधानिक वैधता को कायम रखते हुए तलाक़शुदा मुसलमान महिला के आर्थिक अधिकारों के इर्द-गिर्द फैली अस्पष्टता को मिटाकर उन्हें एक ठोस आधार प्रदान कर दिया। परन्तु विडम्बना यह है कि मीडिया व धर्म-निरपेक्ष मानवाधिकारियों, महिला अधिकार कार्यकर्ताओं व वकीलों ने इस अहम फ़ैसले को नज़रअंदाज़ करते हुए तलाक़शुदा मुसलमान महिलाओं के पास अधिकार न होने की बहस जारी रखी।

2002 के एक अन्य मामले, *शमीम आरा केस* में सर्वोच्च न्यायालय ने तेहरा तलाक़ को अवैध करार देते हुए फ़ैसला सुनाया कि कुरान के अनुसार तलाक़ सार्वजनिक तौर पर दिया जाना चाहिए और ऐसा करने से पहले मध्यस्थता ज़रूरी है। इस नियम के पहले अक्सर ऐसा होता था कि गुज़ारा खर्च के लिए अर्ज़ी डालने पर पुरुष कोर्ट में तलाक़ के दस्तावेज़ दाखिल कर देते थे जिससे उनको खर्चा न देना पड़े। अब ऐसा करना संभव नहीं था क्योंकि उच्च व सर्वोच्च न्यायालयों ने इस प्रकार के दस्तावेज़ों को मान्यता देने से इंकार कर दिया और पतियों को गुज़ारा भत्ता देने के आदेश जारी कर दिए हैं। इस मुद्दे पर हमारे सामने अदालत द्वारा पारित किए गए कई फ़ैसले मौजूद हैं।

इन सब बातों के बावजूद आम धारणा यही है कि मुसलमान महिलाओं के पास अधिकारों का बहुत अभाव है। अफ़सोस तो इस बात का भी है कि न सिर्फ़ पति बल्कि सामाजिक कार्यकर्ता, महिला अधिकार वकील, सत्र अदालत के न्यायाधीश आदि भी इसी पूर्वग्रह से ग्रस्त हैं। इसी सबको ध्यान में रखते हुए मैं यह दोहराना चाहती हूं कि अनभिज्ञता के कारण काफी औरतें अपने ज़ायज़ अधिकारों को पाने से वंचित रह जाती हैं। इसलिए ज़रूरी है कि हम मुसलमान महिलाओं के अधिकारों को लेकर अपनी समझ को पुख्ता करें और पूर्वग्रहों को पीछे छोड़कर आगे बढ़ें। जब तक हम ऐसा नहीं करते मुसलमान महिलाएं अपने हक़ों को खोकर मुफ़्लिसी और असमानता से जूझती रहेंगी।

__फ्लेविया एग्निस__ वकील व मजलिस संस्था की निदेशक हैं।

आपबीती

"मैं बचपन से ही अपने पति और उसके घरवालों को जानती थी। बी.ए. की पढ़ाई करते–करते हमें प्यार हो गया। हम दोनों अलग जाति के थे इसलिए मेरे रिश्तेदारों और परिजनों ने हमें शादी करने की रज़ामंदी नहीं दी थी। मेरे पति ने मुझसे कहा कि अगर शादी में दहेज़ मिलेगा तो उसके घरवाले शादी को मंजूरी दे देंगे। खैर हमने सभी विरोधों के बावजूद शादी कर ली।

पति पेशे से एक वैज्ञानिक था जिसकी नौकरी दिल्ली में थी। शादी के बाद हम दिल्ली आकर रहने लगे। पहले ही दिन से पति का व्यवहार अपमानजनक था। वह कहता कि मैं सुंदर नहीं हूं और मुझे कपड़े पहनने का सलीका नहीं आता। सबके समाने मुझे ज़लील करना उसकी रोज़ की आदत बन गई थी।

जब मैं मां बनने जा रही थी तो पति ने मुझे अपने माता–पिता के पास चेन्नई भेज दिया। ससुराल में मुझे सबकी सेवा करनी पड़ती थी। वे लोग मेरे साथ जानवरों जैसा व्यवहार करते थे। जब मेरे पेट में पांच माह का गर्भ था तब पति ने मेरे पेट पर लात मारकर मुझे पूरे दिन घर के बाहर खड़ा रखा। इससे मेरी बच्चेदानी में चोट लग गई। मानसिक व शारीरिक तकलीफ़ों के अलावा अब पति मुझे बेकार औरत भी समझने लगा था। मेरी हालत इतनी खराब हो गई कि मैं अपना नाम तक भूल गई। मगर मुझ पर अत्याचार कम नहीं हुए। पति मेरे बेटे से भी नफ़रत करता था। मैं सब कुछ चुपचाप इसलिये सहती रही क्योंकि मुझे लगा वह हमें प्यार करता है।

जून 2006 में वह अपनी बीमारी का बहाना बनाकर दिल्ली से वापस चेन्नई चला गया। वहां पहुंचकर उसने मेरे भाई को फ़ोन करके कहा कि उसने दिल्ली की नौकरी छोड़ दी है और अब वह वापस नहीं जाएगा। उसने भाई को यह भी कहा कि मेरा दिमाग खराब हो गया है और मुझे इलाज के लिए पागलखाने में दाखिल करा दिया गया है। जब दो महीने तक पति ने मेरे बेटे और मेरी कोई खबर नहीं ली और पैसे भी नहीं भेजे तो मैं घबरा गई। उसके पिछले व्यवहार को देखते हुए मैंने *जागोरी* से मदद मांगी। कुछ दिनों बाद वह अपने भाई और मां के साथ आया और हमें ज़बरदस्ती घर से बाहर निकाल दिया। मेरा बेटा और मैं बंजारों की तरह इधर–उधर घूमते रहे। उसने अदालत में तलाक़ का केस भी दायर कर दिया। अदालत में उसने मेरे ऊपर तमाम झूठे आरोप लगाए। मैंने *जागोरी* की मदद से अपना केस लड़ने का फ़ैसला लिया। पर विडम्बना यह थी कि मेरे घरवाले, रिश्तेदार, वकील, जज़ सब मुझे एक ही सलाह देते रहते थे कि मै सब कुछ भुलाकर पति से माफी मांग लूं और उसके पास वापस चली जांऊ।

मैं जानती हूं मैं आर्थिक रूप से आत्म निर्भर नहीं हूं। बच्चे की ज़िम्मेदारी भी है। पर मुझे न्याय चाहिए। पति ने मुझे वेश्या कहते हुए किसी दूसरे के साथ भाग जाने का आरोप लगाया था। परन्तु जज और वकील के सामने वह मुकर गया और बोला कि वह हमसे प्यार करता है और वापस मिलकर रहना चाहता है। पर मुझे अब उसकी किसी बात पर विश्वास नहीं है। मैं निश्चय कर चुकी हूं कि अब मैं उसके साथ नहीं रहूंगी।

मैंने अदालत में गुज़ारा खर्च के लिए याचिका भी डाली। नौ महीने बाद फ़ैसला उसके हक में हो गया। मेरी हिम्मत टूट गई थी पर मैंने हार न मानते हुए उच्च न्यायालय में अपील की। यहां पच्चीस तारीखों के बाद अदालत ने पति को मेरे बेटे की पढ़ाई का पूरा खर्च उठाने, मुझे स्थाई गुज़ारा खर्च देने और जायदाद का पचास प्रतिशत हिस्सा देने का निर्णय सुनाया। अदालत ने सत्र अदालत के तलाक़ को खारिज ठहराते हुए मुझ पर से कठोरता और परित्याग के आरोप भी हटा दिये। साथ ही मुझे अलग रहने और आपसी सहमति से तलाक़ लेने का हक़ भी दिया।

अब मैं अपने सत्रह वर्ष के बेटे के साथ अलग रहती हूं। मेरे बेटे ने मेरी तकलीफ़ों में हमेशा मेरा साथ दिया है। कानूनी तौर पर अभी भी मेरा तलाक़ नहीं हुआ है। हमारी लड़ाई लम्बी और कठिन है पर हम अकेले नहीं हैं।"

लेख

घरेलू हिंसा सुरक्षा कानूनः एक विश्लेषण

लॉयर्स कलैक्टिव विमेन राइट्स इनिशियेटिव

घरेलू हिंसा घर के सुरक्षित वातावरण में एक नज़दीकी सदस्य द्वारा की जाने वाली हिंसा का सबसे यातनापूर्ण रूप है। *घरेलू हिंसा से महिलाओं की सुरक्षा कानून 2005* के पारित होने से पहले *भारतीय दंड संहिता* की धारा 498ए के तहत घरेलू हिंसा को सम्बोधित किया जाता था। उसके बाद 1986 में धारा 304बी के ज़रिए एक नए अपराध 'दहेज हत्या' की बात की गई। इस आपराधिक कानून ने अपराधियों की सज़ा पर तो ज़ोर दिया परन्तु महिला की सुरक्षा, आश्रय और आर्थिक ज़रूरतों पर कोई ध्यान नहीं दिया। इसके अलावा यह फौज़दारी कानून सिर्फ़ उन महिलाओं की मदद के लिए था जो विवाहित थीं। इसकी मदद से मायके में हिंसा सहने वाली या अन्य हिंसाओं से जूझ रही औरतों के प्रति राज्य के दायित्व को स्थापित नहीं किया जा सकता था। इसके साथ ही कानून में प्रभावशाली राहत की कमी, लम्बी कानूनी प्रक्रिया जैसी कार्यवाहिक कमज़ोरियां भी थीं। कानूनी आदेशों को लागू करना मुश्किल इसलिए था क्योंकि इसकी अवहेलना करने पर कोई सज़ा या जुर्माने का प्रावधान मौजूद नहीं था।

इन सब बातों को देखते हुए *घरेलू हिंसा से महिलाओं की सुरक्षा कानून 2005* के तहत घरेलू हिंसा को सुस्पष्ट तौर पर परिभाषित किया गया है। इस कानून की ख़ासियत यह है कि इसमें बचाव और उपचार दोनों पर ध्यान दिया गया है। इसके तहत अपराधी को अपनी गलती सुधारने का अवसर मिलता है और साथ-साथ अदालत के आदेश का उल्लंघन करने पर इसमें सज़ा का भी प्रावधान है। लिहाज़ा इस कानून में नागरिक व फौज़दारी दोनों तरह के प्रतिकारों का समन्वय है।

घरेलू हिंसा कानून की निगरानी व मूल्यांकन

लॉयर्स कलैक्टिव की रिपोर्ट— "स्टेयिंग अलाइव" (2005) में इस कानून के कार्यान्वयन पर रोशनी डाली गई है। *लॉयर्स कलैक्टिव* ने विभिन्न राज्यों के बजट आबंटन, मजिस्ट्रेट के आदेशों, उच्च-न्यायालयों के फ़ैसलों, आधारभूत सुविधाओं तथा कानून के तहत चिन्हित मुख्य पणधारियां के साक्षात्कार के विश्लेषण के ज़रिए इस कानून के कार्यान्वयन की समीक्षा की है। इस रिपोर्ट का उद्देश्य यह समझना है कि मौजूदा व्यवहार तथा कानून द्वारा प्रस्तावित सुझावों के बीच तालमेल कैसे बैठाया जाए। इस रिपोर्ट से यह भी अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि औरतों के लिए कानून द्वारा सुझाए पक्षों में से क्या फायदेमंद है और क्या नहीं। यह रिपोर्ट कानून द्वारा उल्लेख किए गए निम्न व्यवहारों को सुनिश्चित करना चाहती है।

प्रशिक्षण व जागरूकता

इस कानून के तहत जुड़े विभिन्न पणधारी-सुरक्षा अधिकारी, सेवा-प्रदाता, पुलिस, न्यायालय, स्वास्थ्य सेवाएं, आश्रयघर अपने क्षेत्र और ज़िम्मेदारी के बारे में स्पष्ट तौर पर नहीं जानते। अपने कार्यक्षेत्र की समझ न होने के कारण ये घरेलू हिंसा कानून का प्रभावशाली कार्यान्वयन करने में असमर्थ हैं। सर्वेक्षण से यह निकलकर आया है कि सभी पणधारियों के लिए उनके विभाग द्वारा समय-समय पर जेंडर संवेदनशीलता प्रशिक्षण होने चाहिए। इसके साथ ही न्यायिक अफ़सरों को इस कानून की गहन समझ भी होनी चाहिए जिससे वे उचित आदेश और राहत संबंधी निर्णय लेकर प्रताड़ित महिला की मदद कर सकें। सभी पणधारियों का प्रशिक्षण एक साथ होना चाहिए जिससे वे एक दूसरे के

साथ मिल-बैठकर प्रमुख मुद्दों, अच्छे व्यवहारों और कानून के तहत अपनी भूमिका पर बातचीत कर सकें।

सुरक्षा अधिकारी

सुरक्षा अधिकारी का काम महिला व अदालत के बीच समन्वय का है। महिला को रोज़नामचा बनाने, अर्ज़ी दाखिल करने और कानूनी आदेशों को लागू करने में मदद मिलनी चाहिए। कुछ राज्यों में सुरक्षा अधिकारी पुलिस थानों में तैनात होते हैं जहां उन पर दबाव डाला जा सकता है। वे अपनी भूमिका और लक्ष्य के बारे में भी पूरी तरह से नहीं जानते। इस बात का रोज़नामचा, अर्ज़ी और नोटिस आदि को देखकर अंदाज़ा लगाया जा सकता है।

आधारभूत सुविधाएं देखें तो सुरक्षा अधिकारियों के पास कर्मचारियों की कमी के कारण काम का बोझ है। अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा, खर्चों का भुगतान तथा अन्य पक्षों के साथ समन्वय की भी समस्या है। कर्नाटक व आंध्र प्रदेश सरकार ने सुरक्षा अधिकारियों की मदद के लिए सहयोगी स्टाफ़ नियुक्त किया है। आंध्र प्रदेश में एक एक्सटेंशन अधिकारी, डेटा एन्ट्री ऑपरेटर, दो परामर्शदाता, एक समाज सेविका व वकील तथा संदेशवाहक नियुक्त किए गए हैं। कर्नाटक में हर सुरक्षा अधिकारी के साथ एक संदेशवाहक तथा हफ्ते में दो बार सलाह के लिए दो वकीलों की नियुक्ति की गई है।

पिछले कुछ महीनों में पता चला है कि सभी राज्यों में सुरक्षा अधिकारियों की नियुक्ति कर दी गई है। बिहार में 2011 में स्वायत्त सुरक्षा अधिकारियों की नियुक्ति की गई थी। इसी तरह कर्नाटक में 23 स्वायत्त सुरक्षा अधिकारियों को विभागीय पदोन्नति और 24 की नई नियुक्ति की गई है। केरल में 30 परख-अवधि अधिकारियों को सुरक्षा अधिकारी का पद दिया गया है। हालांकि 2011 से किसी भी परख-अवधि अफ़सर को सुरक्षा अधिकारी का काम नहीं सौंपा जा रहा है बल्कि 14 स्वायत्त पदों पर नियुक्तियां की गई हैं। ये सुरक्षा अधिकारी ज़िला परख-अवधि अफ़सरों के सहयोग से काम कर रहे हैं।

सेवा-प्रदाता

सेवा-प्रदाता मुख्यतः गैर सरकारी संगठन हिंसा से जूझने वाली महिलाओं को सहयोग प्रदान करते हैं। वे महिलाओं को स्वास्थ्य, आश्रयघर सेवाएं पाने में मदद करने के साथ-साथ मजिस्ट्रेट के पास शिकायत दर्ज़ कराने में भी सहयोगी रहती हैं।

महिला सुरक्षा अधिकारी व पुलिस के बीच तालमेल व सेवा-प्रदाताओं के औपचारिक सहयोग की कमी के कारण प्रताड़ित महिला को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। 2011 में यह देखा गया है कि सिर्फ़ कर्नाटक राज्य में सेवा-प्रदाताओं ने सुरक्षा अधिकारियों को सहयोग प्रदान किया। उन्होंने अदालत से आदेश निकलवाकर उन्होंने सुरक्षा अधिकारियों तक पहुंचाने में अहम भूमिका अदा की। मध्य प्रदेश व आंध्र प्रदेश में भी सेवा-प्रदाता सम्मन बांटने और महिलाओं के घर जाकर बातचीत करने में सहयोग कर रहे हैं।

2011 में गुजरात सरकार ने हर सेवा-प्रदाता को दो कानूनी परामर्शदाता की सेवाएं मुहय्या कराईं और 236 सेवा-प्रदाताओं को ज़िला व तालुका स्तर पर नियुक्त किया। पर ये सेवा-प्रदाता अनेक ज़िम्मेदारी निभाने वाले सरकारी केंद्र हैं जिन्हें सरकारी अनुदान मिलता है। केरल में आधारभूत सुविधाओं को बेहतर बनाने के लिए सेवा-प्रदाताओं को वकील व कानूनी सलाहकारों की नियुक्ति के लिए 5000/- माहवार का अनुदान दिया गया। हिंसा पीड़ितों को स्वास्थ्य व मनोवैज्ञानिक सेवाएं प्रदान करने के लिए हर सेंटर को 10,000/- का अनुदान भी दिया गया है। केरल राज्य समाज कल्याण बोर्ड को 27,98,928 रुपयों का अनुदान सभी खर्चों के लिए आबंटित किया गया है।

पुलिस

घरेलू हिंसा झेलने वाली महिला सबसे पहले पुलिस के पास जाती है। परन्तु अनेक प्रशिक्षणों व जागरूकता अगुवाइयों के बावजूद पुलिस मामले को समझा-बुझाकर खत्म करने का प्रयास करती है। पुलिस कानूनी कार्यवाही या महिला

को वैकल्पिक कानूनी प्रतिकारों के बारे में नहीं बताती। पुलिस सुरक्षा अधिकारियों और सेवा-प्रदाताओं के साथ आदेशों को लागू करने व उनके उल्लंघन पर कार्यवाही करने में भी हिचकिचाती है। पुलिस के पास हमेशा यह बहाना होता है कि अदालत के आदेश के बिना वह कोई कार्यवाही नहीं कर सकती। पर कई बार ऐसे मामले भी सामने आए हैं जहां अदालती कार्यवाही के बिना ही पुलिस ने महिलाओं की मदद की है। पश्चिम बंगाल में एक ऐसा ही उदाहरण है- वहां सुरक्षा अधिकारी अपने कार्यक्षेत्र के बाहर नोटिस जारी करने के काम में पुलिस स्टेशनों में रेडियोग्राम की मदद ले रहे हैं।

न्यायपालिका

इस कानून की व्याख्या करके महिला को राहत दिलवाने की ज़िम्मेदारी को सच्चाई बनाने में न्यायालय की भूमिका अहम है। हालांकि शुरूआती वर्षो में इस कानून के मायने समझने में कुछ दिक्कत हुई परन्तु 2011 के आदेशों का विश्लेषण करने पर सामने आया है कि सामाजिक ज़रूरतों को ध्यान में रखते हुए न्यायालयों ने *घरेलू हिंसा कानून* के तहत दर्ज परिभाषाओं के दायरे को और अधिक व्यापक बनाया है। अदालतों ने हिंसा बंद करने और रिहाइशी आदेशों को भी बड़ी संख्या में पारित किया है।

अदालत ने घरेलू हिंसा के प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर ही सुरक्षा आदेश जारी किए हैं जिससे महिलाएं सशक्त महसूस कर रही हैं। इन राहतों ने महिलाओं को हिंसा मुक्त रिश्तों में रहने की जगह बनाने का हौसला दिया है। उन्हें आर्थिक राहत भी मिली है। अदालत ने अत्यधिक भावनात्मक व शारीरिक यातना के मामलों में मुआवज़े का भी प्रावधान बनाया है। अंतरिम व पूर्ण गुज़ारा भत्ता पाने के आदेश भी पारित किए गए हैं। इसके बावजूद भी कानून के तहत साठ दिन में राहत पाने के प्रावधान को पूरी तरह लागू नहीं किया जा सका है जिसके कारण अनावश्यक देर और समस्याएं पैदा होती हैं।

घरेलू हिंसा कानून के तहत अदालत में सुरक्षा अधिकारी द्वारा दाखिल होने वाले रोज़नामचे को एक निर्णायक दर्जा हासिल नहीं है। *लॉयर्स कलैक्टिव* के सर्वेक्षण से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि अगर अदालत रोज़नामचे को दाखिल करने की प्रक्रिया का एक निश्चित तरीका स्थापित कर सके तो महिला सुरक्षा अधिकारी की मदद से अदालत तक पहुंच सकेगी। समूह का यह भी मानना है कि धारा 498ए और *घरेलू हिंसा कानून* का इस्तेमाल एक साथ किया जाना चाहिए क्योंकि दोनों अलग-अलग परन्तु सम्पूरक भूमिका निभाते हैं। इन प्रावधानों व सुझावों को लागू करने के लिए न्यायिक अधिकारियों का गहन प्रशिक्षण किया जाना चाहिए जिससे वे उपयुक्त आदेश जारी करके प्रताड़ित महिला को राहत मुहय्या करा सकें।

कानून संबंधी जानकारी और स्पष्टता का अभाव

2011 सर्वेक्षण की सबसे चौंकाने वाली खोज है *घरेलू हिंसा कानून* पर स्पष्टता और कार्यान्वयन संबंधी जानकारी का अभाव। इसका अच्छा उदाहरण है इस कानून के तहत रिहाइश का अधिकार तथा सम्पत्ति पर अधिकार की व्याख्या के बीच अंतर। यह गलतफ़हमी कि इस कानून के तहत औरतें तलाक़ व सम्पत्ति का बंटवारा जैसी राहतें भी पा सकती हैं पर स्पष्टता और समझ बनाना ज़रूरी है क्योंकि इससे घरेलू हिंसा झेलने वाली महिलाओं के प्रतिकार पर प्रभाव पड़ सकता है।

सर्वेक्षण से यह भी सामने आया है कि कुछ सुरक्षा अधिकारी यह समझते हैं कि घरेलू निरीक्षण रिपोर्ट और रोज़नामचा एक ही चीज़ है। यही गलतफ़हमी महाराष्ट्र में भी थी। अदालत को भी दोनों के बीच अंतर को स्पष्ट तौर पर समझना होगा क्योंकि रोज़नामचा रिपोर्ट में घरेलू निरीक्षण की आवश्यकता नहीं होती। घरेलू निरीक्षण की ज़रूरत रिहाइशी आदेश से जुड़े मुद्दों पर स्पष्टता के समय पड़ती है।

स्वास्थ्य व आश्रयघर सुविधाएं

कानून के तहत घरेलू हिंसा से पीड़ित महिलाओं को स्वास्थ्य व आश्रय सुविधाएं मिलनी चाहिए परन्तु ये सेवाएं मौजूद नहीं हैं। सबसे पहली बात यह है कि इन संस्थानों को अपनी ज़िम्मेदारियों व भूमिका को कोई समझ नहीं है। घरेलू हिंसा से प्रताड़ित महिला को सबसे पहले चोट का जायज़ा लेने के लिए स्वास्थ्य परीक्षण कराना होता है पर स्वास्थ्य अधिकारी व संस्थान इस कानून के कार्यान्वयन में

कोई मदद नहीं करते। सरकार व *लॉयर्स कलैक्टिव* द्वारा आयोजित प्रशिक्षणों में भी ये अधिकारी व संस्थान हिस्सा नहीं लेते। आश्रयघरों के पास भी अनुदान व प्रशिक्षण की कमी होती है। *कानूनी सलाह अथॉरिटी* भी इस कानून को लागू करने में मददगार नहीं रही है जबकि *कानूनी सुविधा अथॉरिटी कानून (1987)* के तहत महिलाएं मुफ़्त कानूनी मदद पाने की हक़दार हैं।

संस्थागत आंकड़ों का अभाव

किसी भी कानून की निगरानी व कार्यान्वयन एकत्रित आंकड़ों पर आधारित होता है और इसकी कमी एक समस्या हो सकती है। इस कानून के तहत स्वास्थ्य केन्द्रों से आंकड़े एकत्रित करने के लिए ज़िम्मेदार विभाग ने अपना काम नहीं किया है। वे सभी पणधारियों को उनकी भूमिका बताने और उनके आपसी तालमेल के लिए भी नोटिस जारी करने के लिए ज़िम्मेदार हैं पर वे इन सभी दायित्वों को निभाने मे चूक गए हैं। निगरानी व मूल्यांकन रिपोर्ट ने एक समान रिपोर्टिंग तंत्र, जिसकी मदद से सभी पणधारियों से आंकड़े एकत्रित किए जा सकें की ज़रूरत पर ज़ोर दिया है।

बजट

घरेलू हिंसा कानून 2006 में लागू हुआ पर केंद्रीय सरकार ने इसके कार्यान्वयन के लिए कोई बजट आबंटित नहीं किया था। पर राज्यों ने अपने बजट में से प्रशिक्षण, कौशल निर्माण, जागरूकता, जानकारी, शिक्षा व सम्प्रेषण जैसे महत्वपूर्ण घटकों के लिए आबंटन किया है। 33 राज्यों में से 13 राज्यों ने इस कानून को लागू करने के लिए योजना बनाई है। मेघालय ने 2 करोड़ व कर्नाटक ने 5 करोड़ की राशि इस कानून के कार्यान्वयन के लिए नियत की है। परन्तु बिहार, झारखंड, राजस्थान, पश्चिमी बंगाल ने कोई संसाधन आबंटित नहीं किए हैं जबकि इन राज्यों में घरेलू हिंसा के आंकड़ों की दर काफी ऊंची हैं।

हमारी रिपोर्ट के अनुसार केरल व बिहार ने हाल ही में कुछ हस्तक्षेप किये हैं। पर सेवा-प्रदाताओं के लिए सहयोग की कमी सभी जगह देखी गई है। केवल मध्य प्रदेश ने आश्रयघरों के लिए कुछ अनुदान निश्चित किया है। इस कानून को लागू करने के लिए कुल बजट 1522 करोड़ रुपये होगा जिसमें ज़रूरी सेवाएं व आधारभूत सुविधाएं भी शामिल होंगी।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि इस कानून को सामाजिक परिवर्तन का दस्तावेज़ बनाने के लिए उन मानकों का विशेष रूप से उल्लेख करना होगा जो कानूनी तौर पर अवैध हैं और जिसके लिए कानूनी राहत और आदेश पारित किए जा सकते हैं। पर इस बहुमुखी, सशक्त कानून का बखूबी उपयोग विभिन्न पणधारियों के बीच समन्वय पर निर्भर है। इस कानून का प्रभावशाली कार्यान्वयन दुनिया के सबसे बड़े प्रजातंत्र में महिला सशक्तिकरण को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

लॉयर्स कलैक्टिव *कानून व महिला अधिकारों पर कार्यरत संस्था है।*

चमक के अलावा

अनामिका

आपने कभी
रोकर उठी औरत की आंखें देखी हैं?
विधापति सूर के विरह-गीतों से उठकर
कोर्ट-कचहरी के फ़ारम पर
चस्पां होती
औरत की आंखें?
रोती हुई नहीं-
रोकर उठी आंखों में
कुछ एक होता है-
पता नहीं क्या-
बारिश में धुले हुए
नारियल के बच्चा-पत्तों जैसा हिलता?

तमिलनाडु में क्यों है कन्याकुमारी?
कोई चीज़ खास किसी एक जगह
क्यों होती है आखिर?
क्यों होती है औरत
जैसी वह होती है,
क्यों होती हैं उसकी आंखें
जैसी वे होती हैं-
तकलीफ़ की थोड़ी चमक
और हल्की थरथराहट के बीच!

अनामिका *हिन्दी साहित्य जगत की वरिष्ठ कवयित्री व लेखिका हैं।*

आमने-सामने

जायज़ या नाजायज़?

अपने प्रभावशाली राजनेता-पिता के नकारने के विरूद्ध अपने पैतृत्व को साबित करने में रोहित शेखर को मिली सफलता ने तमाम महिलाओं और उनके "नाजायज़" कहलाए जाने वाले बच्चों के लिए एक उम्मीद जगाई है। जैसा कि शेखर कहते हैं- "बच्चे नाजायज़ नहीं होते, बाप नाजायज़ होते हैं। अपनी सत्ता का रोब डालकर ये पुरुष मजबूर औरतों को शोषण करते हैं, मासूम बनकर नैतिकता पर भाषण देते हैं और कानून भी इन्ही पुरुषों का साथ देता है।"

शेखर की जीत *भारतीय प्रमाण कानून 1872* की धारा 112 में निहित वैधता की "धारणा" को चुनौती देती है। इस खण्ड का उद्देश्य था गुज़ारा-भत्ता मांगने वाली औरत के ख़िलाफ़ जारकर्म का इल्ज़ाम लगाकर अपने पैतृत्व को नकारने से पुरुषों को रोकना। इस कानूनी धारणा के अनुसार विवाह के दौरान पैदा होने वाली संतान को जायज़ माना जाता है। संतान-पत्नी की ज़िम्मेदारी से विमुख होने वाले पिता को ठोस प्रमाण प्रस्तुत करने की ज़रूरत होती है।

अदालतें नियमित रूप से औरतों व उनके बच्चों को अपने जैविक पिता के ख़िलाफ़ अधिकार हासिल करने से रोकती रही हैं- संतान का जन्म वैवाहिक जीवन के दौरान हुआ था- फिर भी अदालत पैतृत्व जांच का आदेश पारित नहीं करती। एन.डी. तिवारी के विरुद्ध फ़ैसले ने इन औरतों की मांग को एक ठोस आधार दिया है। इससे उन्हें नैतिकता के नाम पर नकारे जाने वाले दावों को अदालत में साबित करने का मौका मिलेगा। इस पूरे विवाद में प्रमुख प्रश्न है हिंदू विवाह का स्वरूप जिसे *हिंदू विवाह कानून 1955* के अनुसार एकविवाह प्रथा पर आधारित माना गया है। इस कानून के पूर्व लम्बे समय तक किसी पुरुष के साथ रिश्ते में रहने वाली महिलाओं को पत्नी का दर्जा मिलता था और वे स्मृति और रिवाजी कानून के तहत अपने अधिकारों की मांग कर सकती थीं। इस नए कानून के बनते ही ये औरतें 'रखैल', 'उप पत्नी' और 'प्रेमिका' बनकर रह गईं जिनके कोई भी वैध अधिकार नहीं थे। *मुस्लिम कानून* में ऐसा नहीं था- वहां बहुविवाह के चलते अनेक पत्नियों को समान अधिकार मुहय्या थे। हिन्दू महिला का अधिकार इतना कमज़ोर था कि अदालत में पत्नी का जायज़ अधिकार साबित करने के लिए दोनों महिलाएं किसी भी हद तक जा सकती थीं।

2004 में *रमेशचन्द्र रामप्रतापजी डागा बनाम रामेश्वरी रमेशचन्द्र डागा* के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने महिला के गुज़ारा भत्ते की मांग को जायज़ ठहराया जिसे उसके पति ने इस बिनाह पर नाजायज़ ठहराया था कि महिला का पिछली शादी से तलाक़ नहीं हुआ है और उसकी बेटी नाजायज़ है। अदालत ने महिला के अधिकार सुरक्षित करते हुए पति को पैतृत्व नकारने का दोषी ठहराया। यह भी स्वीकारा गया कि 1955 से पहले हिन्दू समाज में भी अनेक पत्नियां रखने का चलन था। यह निर्णय इस सच की भी मूक स्वीकृति थी कि *हिन्दू विवाह कानून* बनने के बाद भी वास्तविक हालात में कुछ खास फ़र्क़ नहीं आया है।

हालांकि *हिन्दू कानून* के अनुसार इस तरह के संबंध अवैध होते हैं पर अदालत ने यह माना कि ये रिश्ते "नाजायज़" नहीं हैं और इन संबंधों में रहने वाली महिलाओं को गुज़ारा भत्ता पाने का हक़ है।

रोहित शेखर के मामले की सुनवाई के बाद विवाह संबंधों के बाहर संतान पैदा करने वाली महिलाओं की स्थिति बेहतर हुई है। अब वे अपने बच्चे का पैतृत्व साबित करके गुज़ारा भत्ता पा

सकती हैं। परन्तु अनीता आडवाणी जैसी महिलाओं का क्या होगा? अनीता का दावा है कि वह राजेश खन्ना के साथ पिछले दस सालों से रह रही थीं, जबकि अलग रह रही पत्नी डिम्पल कपाड़िया से राजेश खन्ना की वैध शादी में कानूनी तलाक़ नहीं हुआ था। महज एक कानूनी कागज़ के आधार पर अनीता को राजेश खन्ना की अंतिम क्रियाओं में शामिल नहीं होने दिया गया।

घरेलू हिंसा कानून ने इस तरह के संबंधों में रह रही औरतों के सम्मान और हक़ के लिए एक नई परिभाषा स्थापित की है- "विवाह के स्वभाव वाले संबंध"। सबने सोचा कि इस नई परिभाषा के मदद से रखैल के नाम से जानी जाने वाली औरतें लिव-इन (सह-रिहाइशी) पार्टनर बन जाएंगी। पर 2010 में न्यायमूर्ति मार्कण्डे काटजू ने महिला की गुज़ारा भत्ता पाने की मांग को खारिज करके आशाओं पर पानी फेर दिया। विवाहित पुरुषों के साथ विवाह जैसे संबंधों में रहने वाली महिला एक बार फिर 'रखैल' बन गई। इस फ़ैसले ने सकारात्मक निणर्यो और *धारा 125 फौज़दारी कार्यवाहिक कोड* की पुनर्व्यावस्था को नज़रअंदाज़ कर दिया।

हमारी हिन्दू सामाजिक परम्परा में "एकविवाह" प्रथा जिसे अनेक न्यायाधीश अपने फ़ैसले में मजबूर औरतों के विरुद्ध इस्तेमाल कर रहे हैं कभी भी हिन्दू सामाजिक रीति का हिस्सा नहीं रही है। राजेश खन्ना/अनीता आडवाणी के अलावा अनेकों ऐसे उदाहरण हमारे समाज में हैं जहां अरक्षित औरतों ने सत्ताधारी पुरुषों पर भरोसा किया है और फिर दुत्कार और धोखे खाएं हैं। धीरे धीरे ये सभी कहानियां सामने आ रही हैं जिनमें राजनेता, पुलिस अफ़सर, सरकारी मुलाज़िम और धनाढ्य उद्योगपति शामिल हैं।

हमारी अदालतों को महिलाओं व बच्चों के मूल अधिकार मुख्यतः जीवन के अधिकार की रक्षा करते समय इस सड़ती-बिखरती "एकविवाह" हिन्दू विवाह प्रथा का भी पुनर्निरीक्षण करना होगा जिसमें संविधान के खण्ड 21 में दर्ज सम्मानयुक्त जीवन जीने का अधिकार भी शामिल है।

*साभारः **फ्लेविया एग्निस** इण्डियन एक्सप्रेस, अगस्त 2, 2012*

अन्यायी न्याय

कमला भसीन

हो *अन्यायी* न्याय ये कैसे सहा जाये
बाड़ खेतों को खाये तो कैसे सहा जाये

मामले घरों के निजी कानून कहायें
मर्दाने धर्मों के इन पर हैं साये
ये सारे औरत को दबायें
खुद न्याय दबाये ये कैसे सहा जाये
हो *अन्यायी*. . .

परिवार का मुखिया पति क्यों कहाये
बच्चों पर हक़ भी पिता ही क्यों पाये
न्याय कहना इसे है *अन्याय*
ऐसा उल्टा हो न्याय ये कैसे सहा जाये
हो *अन्यायी*. . .

जायदाद आधी कहीं आधी गवाही
मर्दों को चार शादी हमको मनाही
दोगले क़ानून और कितने गिनायें
खुद *अन्धा* हो न्याय ये कैसे सहा जाये
हो *अन्यायी*. . .

न्याय कराने जो जज साहब आये
मर्दाना चश्मा हैं वो भी चढ़ाये
पितृशाही पुलिस भी चलाए
न्याय कहीं भी न पायें ये कैसे सहा जाये
हो *अन्यायी*. . .

सहने को रहने दें कहने पे आयें
कोर्ट कचहरी के धोखे न खायें
क़ानून मर्दों के अब न चलायें
क़ानून नये बनायें तो बड़ा मज़ा आये
कोई आधा न पाये तो बड़ा मज़ा आये
कोई ज़्यादा न पाये तो बड़ा मज़ा आये

***कमला भसीन** नारीवादी कार्यकर्ता व लेखिका हैं।*

कहानी

सुमिन्तरा की बेटियां

सूर्यबाला

वहां शहर की आबादी खत्म होती थी— चारों तरफ़ पीली, रेतीली, खसखसी, मिट्टी के ढूह थे। ढूहों पर ढेर-की-ढेर कब्रें। और शहर की आबादी की छोर पर हमारा मकान। हमारे बाद मछुआरों के झोपड़ों की कतारें। बीचोबीच उसका "टटरा"।

वह अपने घर को "टटरा" कहती थी। उसी टटरे के बीच से वह पैरों में मोटे-मोटे गिलट के कड़े-छड़े और झांझरे झमकाती आंधी-तूफ़ान-सी आती और ओखली-मूसल सहेज लेती। दो-चार मल्लाहिनें, नौकर और भी आगे-पीछे बैठते-उठते होते। वह सबसे हंसी-ठिठोली करती, लगातार खिलखिलाती रहती। मुट्ठियों में थमा मूसल अपनी रफ़्तार से चलता रहता। कभी धान कूटते-कूटते अचानक बच्चों के बीच से मुझे उठा, ठुमका लगाकर दो झोंकेदार चक्कर मार लेती।

वह चक्कर मारकर ठुमका लगाती होती तो उसके कनफूलों से झूलती चांदी की मैली ज़ंजीर बाजरे की बालियों-सी लगतीं। मल्लाहिनें होंठों के कोनों में पल्लू का छोर दबाकर निहायत दकियानूसी तरीके से लजातीं और मुआइने पर निकली ताई झिड़कते हुए गुज़र जाती— "मुंहजोर!" तुझे धान कूटने को बिठाया था न-जाके मर्दाने में मजलिस लगा न! यहां क्या दीदे चमका रही है।"

वह खुलकर हंसती... "मेरी मजलिस तो धान की ढेरी के बीच ही लगती है बहूजी। ये लो तीन ढेरी कूट दीं। बाकी उस पहर—" और ताई के ना-ना करते भी एक झपाके से मुझे गोदी में झुलाती, तेज़ झोंके-सी गुज़र जाती।

बिल्कुल अलग थी वह, अपनी हमउम्र कामचोर मल्लाहिनों से। न उन सबों की तरह कसोरे-कसोरे भर तेल चुपड़कर बाल संवारती, न माथे के बीचोबीच में मांग फाड़, पीले सिंदूर की पतली लाइन लगाती। और ना ही बात-बेबात लजाती, अलसाती...

मैंने उसे कभी किसी से आम औरतों की तरह फुसफुसाते, बतियाते नहीं देखा था। धान कूटते हुए भी वह उसकी लय पर कोई-न-कोई चुटकी बजाकर दुलारते या चक्कर मारकर घुमाते, खिलखिला लेती। कोई कुछ पूछता, कहता तो बड़ी खुशदिली से लेकिन अति संक्षिप्त-सा जवाब देती।

उसकी बुसी देह से आती गोबर पाथने, सानी-पानी करने और कुटे अनाजों की मिली-जुली गन्ध। हवा के झोंकों के साथ एकसार उसके रूखे बेतरतीब बाल और कलाइयों की नोकदार ककनी, मुझे उसके प्रति प्यार और गिजगिजाहट दोनों से एक साथ भर देती।

बाहर नीम-जामुन की झुरझुराती हवा खाता सूरज आराम से चिपरी-पाथी दीवारों के पार छुपता होता। गन्दी मैली कुर्तियों और भूरे बालों वाली उसकी दोनों लड़कियां, अपनी या किसी और की गाय-भैंस चराकर लौट रही होतीं। "माई" को देखते ही वे हाथों से संटी फटकारती, दुलराती दौड़ आतीं। पास आने पर, अपनी फटी कुर्तियों की जेब में ठुंसी जंगली बेरियां और कच्चे अमरूद माई को दिखातीं और बतातीं कि गोरू प्यासे हैं।

एक बार सांझ ढले वह मुझे भी अपनी गोद में लाद-लादे दोनों लड़कियों सहित टटरे में लेती गयी थी।

फटे-चिरे बांसों को ठोक-पीटकर बनाये गये दरवाज़े में कहीं से लोहे की एक जंग लगी सांकल लाकर अटकायी गयी थी और उस सांकल मे एक ताला। मुझे लादे-लादे उसने ताला खोला। सारी जगह, गोबर, मवेशी और सानी-पानी की तेज़ गंध। एक तरफ़ भैंस और उसकी पड़िया बांधने की जगह, दूसरी तरफ़ अधपिचके बर्तन-बासन।

उसकी दोनों लड़कियां, पियरिया और झुमरिया अपने टटरे में आकर इतनी खुश हो गयीं जैसे दीवानेखास पहुंच गयी हों— और मारे खुशी के ज़्यादा लड़ने-झगड़ने और दुलारने लगीं।

उसने लड़कियों को दुलार से डपटा और आंचल के छोर से कुछ पैसे उनके हाथ में रख, दौड़कर मेरे लिए बिस्कुट लाने को कहा। फिर जल्दी-जल्दी अपनी भैंस का सानी-पानी करने लगी... लड़कियां दौड़ती हुई बिस्कुट ले आयीं। उसने बड़े प्यार से एक बिस्कुट मुझे और आधा-आधा उन दोनों को दिया।

अंधेरा हो चला था। उसने ताक से ढिबरी उतारकर जलाई और बेटियों को, मैले से चीकट कपड़े में लपेटकर रखी रोटियां निकालकर खाने को दीं।

ढिबरी के मैले उजाले में मैं बिस्कुट और वे तीनों रोटियां कुतर-कुतरकर खाते रहे। अनायास मैंने जानना चाहा— "सुमिन्तरा, तू टटरे में क्यों रहती है? टटरे में तो हमारे जानवर रहते हैं।"

उसने मुस्कुरा कर कहा— "जहां हमारे जिनावार रहेंगे बिटिया, वहीं तो हम भी रहेंगे न..."

मैंने सयानों की तरह गर्दन हिलाई... तभी झुमरिया ताक पर अपने कंचे, गिट्टे रखने उचकी। अचानक चमकदार बक्सुए और पीली-काली धारियों वाली एक जैकेट नीचे आ गिरी।

उतनी-सी उमर में भी मुझे इतना मालूम था कि यह पहनावा "पुरुष" का है— "ये किसका है?"

"ढोढ़े का..." दोनों लड़कियों ने झटपट जवाब दिया—वह चौंककर जल्दी से उठी, जैकेट में चिपकी धूल, भूसा झाड़ा और वापस तह करके ताख पर रख दिया। यह नाम, एक बेढब रोड़े-सा मेरे बाल मन में यहां-वहां लुढ़कने लगा।

वह आंगन में पड़े गोभी के पत्ते और चने-मटर का साग टोकरे में बटोर रही है, अपने गोरू को खिलाने के लिए।

ताई जैसे इकड़ी-दुकड़ी के खेल में अपना पासा फेंकती है...।

"क्यों री—ढोढ़ेलाल की कुछ खोज-खबर?"

"लगी न!"

"कैसे, चिट्ठी आयी थी क्या?"

"न, मारवाड़ी बासे से कोई आता था, उससे खबर भेजी...।"

"तो, क्या खबर भेजी? आता है क्या?"

"चढ़ते जेठ या उतरते असाढ़।" प्रश्न से बचने के लिए ही वह पत्ते समेट शीघ्रता से उठने का उपक्रम करती-सी...।

"अरे कुछ खर्चा-पताई भी भिजवाई?"

"आजकल ऐतबार नहीं न बहूजी किसी का...।"

कहते-कहते वह जीना पार कर जाती है जिससे ताई के होंठों के कोनों की मुस्कुराहट का सामना न करना पड़े। लाचार ताई अकेले में मुस्कुरा लेती है...।

"ढांपती चलती है बेचारी, ढोढ़ेलाल की करनी— कुकरनी..."

पियरिया, झुमरिया भी हमारे ही बाड़े से तोड़ी जामुनें ठूंसे जी भर शरारतें करती, इठलाती खिलखिलाती रहती हैं। बेटियों के साथ जब वह अपनी भैंस और उसकी पड़ियों को दुलारती है तो उस टटरे में भी एक उजास-सी फूटती है।

वह हंसती है, लहरदार ठुमके लगाती है, लेकिन किसी ने उसे गाली-गलौज या बेअदबी पर उतारू होते नहीं देखा। करीब-करीब सारे ही नौकर, मल्लाहिनें, ताऊ के शिकार पर जाने की बात पर अकेले में कनखी मारकर मुस्कुरा लेते हैं— मिसरानी तो एक बार बोल भी पड़ी थी। "आप भी निकल जाया करो न बहूजी सिकार पे—साहेब के साथ..." पर ताई ने छूटते ही मुंह बिचकाया था— "ना रे, मुझे तो मचान के नाम से ही घुमटा आता है। वरना साहेब तो कई बार कित्ता इसारा किये, नाराज़ हुए लेकिन. .." हर कोई ताई के न जाने का कारण जानता था। साहेब एक शिकारगाह पर कई निशाने लगाते हैं।

वक्त-बे-वक्त ताई के चेहरे पर भी छोटी-बड़ी आंधियां उठती थीं, राख बैठती थी। लेकिन कनफूल की झूलती ज़ंजीरों के बीच सजा उसका चेहरा कभी कुम्हलाया नहीं। ज़िन्दगी हमेशा पूरे हुलास के साथ सहेजी हुई।

मुझे तो फिटन से उतरकर शिकारवालों को हाथ हिलाते ताऊजी भी, कभी-कभी बड़े बेचारे-से लगते-लेकिन वह कभी नहीं लगी "बेचारी" सी, जाने क्यों?

तब भी नहीं जब सीधे-सीधे किसी ने पूरी निर्दयता से पूछ डाला।

"क्यों री! कहीं, वहीं के वही, कोई रख-रखा तो नहीं ली ढोढ़े बट्टरबाज ने..."

"आंख की ओट तो दुनिया की ओट"— वह प्रसंग समाप्त करती टोकरा लिये तेज़ी से निकल जाती।

"फिर भी, आदमजात को अपनी ज़िम्मेदारी तो समझनी चाहिए—आता कब है बदजात इस तरफ़..."

"आयेगा तो देख लेना। छुपाके तो रखूंगी नहीं...।"

हां, ऐसी बातों के दौरान कुछ देर चांद-सूरज ज़रूर बारी-बारी उसके चेहने पर उगते-छुपते रहते। पर कुछ देर में वही टटरा, गोबर, गोरू।

अचानक खबरें फैलीं, ढोढ़ेलाल आया है— इधर नहीं, कोस-भर पीछे लाइन-बाज़ार में ठहरा है। सकलदीप के ढाबे में। फुसफुसाहटों की चिन्दियां उड़ती फिरीं। अकेले नहीं, बजबज वाली बंगालिन के साथ। राम असारे और खिलावन लाइन-बाज़ार गये थे। अपनी आंखों देख के आये हैं।

मुंह नहीं चुराया। बड़ी हौंस से मिला। ढाबे की खाट पर बिठाकर गोश्त-रोटी खिलायी। अपनी राम कहानी सुनाई। अब तो जो भी इधर से जाता है, लाइन-बाज़ार सकलदीप के ढाबे पर ज़रूर जाता है। ढोढ़े की वजह से ढाबे की बिक्री बढ़ गई है बजबज वाली लुगाई अदब से अन्दर रहती है। इतना नेक और दरियादिल ढोढ़ेलाल कभी नहीं रहा। खेलावन के पूछने पर तो कंठी पर हाथ धर सच का सच उगल भी दिया और कहने लगा, "आधी रात को रोती-बिलबिलाती कोठरी में आ पड़ी-लुगाई जात जान के रहम किया, आसरा दिया। तड़के लाठी-बल्लम लिये उसकी बिरादरी आ खड़ी हुई। अब बोलो, अपनी इज्जत देखें या लुगाई का रोना। फंस ही गया समझो। अब छोडूं तो कैसे? अपना ईमान, अपनी कंठी की भी तो लाज है। गुंसाई जी कह गये हैं, प्राण जाई पर बचन न जाई।"

"सुमिन्तरा का नाम लेते ही आसमान की तरफ़ हाथ जोड़, अंगोछा आंखों पर लगा लेता है— 'ऊ तो साच्छात देवी है देवी—छिमा बड़े को चाहिये-छिमा बरतेगी। पियरिया-झुमरिया को भी निबाह ले जायेगी, जैसे इत्ते बरस निबाहा, आगे भी। बाकी, ब्याह-सादी पे जो कमीबेसी पड़े तो मैं हाज़िर हूं ही। इस चोट्टी के तो खुद ही तीन हैं। उन्हें कहां झोकूं।" धीरे-धीरे करके मल्लाही के टोले के सब हो आये। सकलदीप के ढाबे के गोश्त और ढोढ़ेलाल की खातिर ने सभी का मुंह सिल दिया था। मरद बेचारा—अब करे भी क्या! लुगाई की जात जो न कराये। सब आते-जाते सुमिन्तरा को कहने-समझाने लग जाते, "सुन सुमिन्तरा! इतना सच तो है ही कि सबके सामने कबूल रहा है। चोरी-छुपे ही बिठा लेता तो क्या करती? माफ़ कर दे उसे।"

और देखते-देखते मल्लाही टोलों के आखिरी झोपड़े पर हरी-गुलाबी झंड़िया बंधी और बजबज की बंगालिन ने चुनरी-गोटे में ढोढ़ेलाल के साथ गांठ बांध ली। नगाड़े पर चोटें पड़ती रहीं, तुरही चीखती रही। जब भांवरें पड़ रही थीं तो झुमरिया पेड़ पर चढ़ी, बिरादरी का जीमना देख रही थी।

मैंने खिड़की से झांक कर बड़ी बहन से पूछा— "मल्लाही टोले में क्या हो रहा है?"

"ढोढ़े की शादी।"

मैंने पूछा, "ढोढ़े कौन है?"

बहन ने धीरे से कहा— "पियरिया की माई का दूल्हा..."

पंगत जीम चुकी थी। मल्लाहिनें दुल्हन को टैक्सी में बैठा रही थीं— गाड़ी स्टार्ट होने को थी कि अचानक तीर की तेज़ी से झुमरिया पेड़ के नीचे उतरी और ज़मीन की खसखसी रेत, मिट्टी, कीचड़ जो भी उसके हाथों में समाया— भरपूर उठाकर स्टार्ट होती टैक्सी पर फेंककर चिल्लाई— "ढोढ़े मर गिया, उठी लाश।" जब तक लोक चपतियाने को दौड़े, वह उसी तेज़ी से हांफती हुई बाड़े की दीवार फलांगती, गायब—।

खिड़की, मुड़ेरों से झांकते चेहरे, अपने-अपने आंगन, दालानों की ओर लपके—गज़ब हो गया! झुमरिया ढोढ़े की टैक्सी पर धूल फेंककर भाग गई।

सुमिन्तरा के हाथ का मूसल थमा का थमा रहा गया। हकबकाई, बदहवास सी वह नीचे भागी। नगाड़े-तुरही की आवाज़ें थम गई थीं। उत्सव समाप्ति पर था। सिर्फ़ झंडियां रेतीली हवा में झरझरा रही थीं।

वह बावली, सी पियरिया-झुमरिया—चिल्लाती भीटे दर भीटे दोनों बेटियों को पुकारती फिरी। कहीं से कोई आवाज़ नहीं—ज़रूर लोगों के डर से कहीं जीने, चौबारे में दुबकी पड़ी होंगी।

तभी कंटीली बेर के टीले पर दो मैले छींट के धब्बे दिखे। वह कड़े-छड़ों की आवाज़ बरगलाती बेतहाशा दौड़ी... पियरियाऽऽ झुमरियाऽऽ!

आवाज़ फिर भी न पहुंची। दोनों अपने खेल में पूरी तरह लिप्त थीं। मगन! पास पहुंचकर देखा, दोनों एक दूसरे की मुंडी-से-मुंडी सटाये मिट्टी का एक लम्बा-सा ढूह अपने छोटे-छोटे हाथों से बड़ी तन्मयता से थोप रही थीं—

"चोट्टिनों!" हांफ़ते-हांफ़ते दम लेकर वह बोली— "क्या है यह?..."

"ढोढ़े की कब्र।"

और दोनों ताली मार के खिखिया पड़ीं। सन्न... वह सहमी... फिर झुकी और दोनों बेटियों को कलेजे से लगा लिया।

चिपरी-पाथी दीवारों के पीछे जब सांझ का सूरज मुंह छुपा रहा था तो वे तीनों अपने टटरे की ओर लौट रही थीं।

और जितनी भी बची-खुची किरनें थीं उनकी भरपूर रोशनी उनके चेहरों को जगमगा रही थी।

लेख

सरोगेसी: व्यावसायिक या निस्वार्थ

मोहन राव

फ़िल्म अभिनेता आमिर खान और उनकी पत्नी किरण राव ने हाल ही में सरोगेसी (प्रतिनिधि कोख) की मदद से अपने आनुवांशिक बेटे आज़ाद के पैदा होने की खबर अखबार में दी। उन्होंने खुदा, विज्ञान, तकनीक, परिवार व दोस्तों का भी शुक्रिया अदा किया। इस नाटक में जिस महत्वपूर्ण किरदार के ज़िक्र का अभाव था वह थी जन्म देने वाली सरोगेट (कोख किराए पर देने वाली महिला) महिला। शायद ऐसा इसलिए था क्योंकि उसे तय की गई रकम अदा कर दी गई थी और इसके पश्चात किसी का उसके प्रति कोई दायित्व नहीं था।

यहां एक ऐसी विडम्बना है जिस पर पहले भी गौर किया जा चुका है। साहित्य गवाह है कि हर सरोगेट से कहा जाता रहा है कि वह धरती पर एक ऐसा नेक काम करने जा रही है जो केवल ईश्वर के ही बस की बात है— संतानहीन दम्पती को जीवनदान देने का काम। फिर भी गर्भाशय किराए पर लेने वाले दम्पतियों के लिए यह एक व्यावसायिक रिश्ता ही है। यहां खरीददार और विक्रेता के बीच कोई लगाव या बेचैनी भरा संबंध नहीं है। सच तो यह है कि उपहार में मिली वस्तु वापिस ली जा सकती है परन्तु खरीदी हुई वस्तु की वापसी नामुमकिन है।

सरोगेसी से जुड़े मुद्दे

मीडिया के जोश और मुद्दों के 'यौनिक' पहलुओं को देखते हुए सरोगेसी और सहायक प्रजनन तकनीक (ए.आर.टी.) से उभरने वाले मुद्दों पर वैज्ञानिक शोध की गई है। लगभग सभी अध्ययनों ने संकेत दिया है कि देश में अनियंत्रित स्वास्थ्य सेवाओं के चलते इसमें अनेक अनैतिक व्यवहार शामिल हैं और आईसीएमआर मार्गदर्शकों का उपयोग अधिकतर उल्लंघन की स्थिति में ही किया जाता है। *समा* (2010) व अन्य पक्षों ने इसमें शामिल महिलाओं की ओर इशारा किया है जो आर्थिक कारणों से अपने शरीर के शोषण के लिए मजबूर होती हैं।

वास्तव में सहायक प्रजनन तकनीक उद्योग को नियंत्रित करने वाला ड्राफ़्ट बिल दरअसल इसी उद्योग के आदेश पर बनाया गया है और इसमें सरोगेट औरतों की सुरक्षा से अधिक इस उद्योग का स्वार्थ निहित है। समीक्षकों ने भारत के इस व्यवहार की अखंड स्वीकृति के पीछे पितृसत्ता के मूल पहलुओं का भी निरीक्षण किया है। पर हैरानी तो इस बात पर है कि इनमें से कोई भी आलोचना निःस्वार्थ सरोगेसी के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रकार की सरोगेसी के आदान-प्रदान पर प्रतिबंध लगाने की मांग नहीं करती। इस लेख में इसी दृष्टिकोण पर चर्चा की गई है।

हालांकि महिलाओं के प्रजनन श्रम की प्रत्यक्षता और मूल्यवर्धन को नारीवाद के दूसरे दौर में हिचक और अनिच्छा से स्वीकार लिया गया है परन्तु अधिशेष प्रजनन श्रम के विचार को न तो पूरी तरह स्वीकारा गया है और न ही इस पर गहन चिंतन किया गया है। यह तथ्य हैरतंगेज़ है क्योंकि पिछले बीस वर्षों मे जीव विज्ञान के क्षेत्र में होने वाले विकास ने वैश्विक उपाचस अर्थव्यवस्था के सभी पहलुओं का व्यापारीकरण कर दिया है। वॉलबी व कूपर (2010:4) दावा करते हैं कि "महिलाएं मूल कोशिका उद्योग, जिसमें भारी मात्रा में मानव भ्रूण, अंडाणु, भ्रूण ऊतक और नाल-रक्त की आवश्यकता होती है, में प्रमुख ऊतक 'दाता' होती हैं। ये उद्योग मातृक-भ्रूणीय संबंध को एक उत्पादक स्थल की तरह आंकते हैं...।"

पश्चिमी देशों में अतिरिक्त (बचे हुए भ्रूण) या बेकार भ्रूण-अंडाणु के रूप में हासिल किए जाते हैं जिनकी पुनरुत्पादन क्षमता लाभ पाने वालों से छुपाई नहीं जाती। परन्तु भारत, चीन और पूर्वी यूरोपीय देशों में यह आदान-प्रदान प्रायः एक सौदे की तरह ही होता है।

यहां मैं जो कहना चाहता हूं वह यह है— क्या हम इस सौदे को शोषण, अतिरिक्त श्रम के उपयोग या फिर विशेष लक्षणों के आदान-प्रदान के रूप में देखते हैं, जिसके फलस्वरूप इसके लिए नीतियों के मायने अलग होते हैं?

महिलाओं का प्रजनन श्रम

घरेलू अर्थव्यवस्था के पुनरूत्पादन में महिलाओं के श्रम को न स्वीकारने के पीछे एक मुख्य कारण है- औरतों को परोपकारी के रूप में देखना। घर के रख-रखाव में लगने वाले उनके श्रम को प्रेम का प्रतीक, उपहार अथवा दान समझा जाता है जिसकी बाज़ार में कीमत लगाना इन भावनाओं की 'तौहीन' होती है। इसलिए इसमें कोई हैरानी की बात नहीं है कि महिलाओं के प्रजनन श्रम को भी इसी तरह देखा जाता है। यानी जो उनके काम का नहीं या 'बेकार' हो उसे वह दूसरों के फायदे के लिए दान कर देती हैं। जैसा कि डिकिनसन (2007:56) बताते हैं, "औरतों के शरीर के 'उत्पादनों' के वस्तुकरण से उनका मूल्य काफी बढ़ गया है। परन्तु इस बढ़त में महिलाओं के योगदान को बाज़ार में स्वीकारा नहीं जाता क्योंकि इसे घरेलू उत्पादन के तहत देखा जाता है। जिस सच्चाई को नज़रअंदाज़ किया जाता है वह यह है कि इस 'दान' पर एक पारदेशी उद्योग सट्टा-बाज़ार में उम्मीदें और भविष्य के सपने बेचकर मुनाफ़ा कमा रहा है।" सेक्सटन (2011) ने इस पारदेशी व्यवसाय को 'उम्मीद के नोटों की सट्टेबाज़ी' का नाम दिया है। हाजिज़ (2012) ने इस वैश्विक जैव अर्थव्यवस्था को 'एक पूंजी आधारित सपने बेचने के कारोबार' का नाम दिया है।

यह वैश्विक उद्योग जिसमें पारदेशी संघों का प्रभुत्व है का संयुक्त राष्ट्र में 76 बिलियन डॉलर तथा यूरोपियन यूनियन में 3.23 ट्रिलियन डॉलर का स्वामित्व है। इस विशाल उद्योग में सहायक प्रजनन तकनीक व सरोगेसी एक छोटा परन्तु महत्वपूर्ण हिस्सा है। महत्वपूर्ण इसलिए क्योंकि इस वैश्विक जैव-अर्थव्यवस्था के लिए 'कच्चा' माल औरतों के शरीर से आता है और बिक्री के पहले इसमें अन्य दूरवर्ती कीमतें जोड़ी जाती हैं। यहां यह जोड़ना ज़रूरी है कि हम महिला के शरीर से जितना दूर जाते जायेंगे उतनी अधिक दूरवर्ती कीमतें इसमें जुड़ती जाएगीं। यह एक पुरुष प्रधान उद्योग है जिसमें जीव-वैज्ञानिक जो औरतों से मिलने वाले 'उपहारों' को पेटेन्ट करते हैं, बायोटेक और पूंजी निवेश करने वाली कंपनियां (जो वैज्ञानिकों द्वारा बेचे जाने वाले पेटेन्ट और इनकी बिक्री से होने वाले मुनाफ़े में हिस्सेदार होती हैं) भी भागीदार होती जाती हैं।

थॉमसन के अनुसार प्रजनन की जैव-चिकित्सीय प्रणाली में प्रजनन को औद्योगिक रूप में उत्पादक बनाने के लिए उपज का कृन्तक (क्लोन) व कक्ष-रेखाओं (सेल-लाइन) की तरह मानकीकरण किया जाता है। फ्रैंकलिन व लॉक (2003) के समकालीन जैव-विज्ञान विश्लेषण के अनुसार प्रजनन जीव-विज्ञान की धुरी है और पूंजी और मूल्य उत्पत्ति का प्रमुख साधन भी। वे दावा करते हैं कि श्रम को स्त्रीकरण और उसके उत्पादन को उपहार और निःस्वार्थ उपयोग से बचाने के लिए मानकीकरण ज़रूरी है।

डिकिनसन समझाते हैं कि अनुवांशिक लोकहित पर चिन्ता व बहस तब प्रखर होती है जब पुरुष कक्ष-रेखा के स्रोत होते हैं। औरतों के साथ ऐसा नहीं है। उनका शरीर प्राकृतिक रूप से प्रजनन के लिए तैयार होता है। परन्तु वैश्विक जीव-अर्थव्यवस्था में स्त्री व पुरुष दोनों के शरीर के वस्तुकरण की संभावना होती है।

विश्व बाज़ार व प्रजनन श्रम

वॉलबी और कूपर दावा करते हैं कि प्रजनन अ-राष्ट्रीयकरण के कारण विश्व बाज़ार इसके लिए खुला है। लिहाज़ा पूर्वी यूरोप में महिलाएं वेश्यावृति के साथ-साथ पारदेशी आई. वी.एफ़. क्लीनिकों के माध्यम से अंडाणु की बिक्री के लिए भी उपलब्ध हैं। इस तथ्य का दस्तावेज़ीकरण किया गया है कि युक्रेनी महिलाएं अपने गर्भपात कराए गए भ्रूण को कॉसमेटिक क्लीनिकों और स्पा को एक हज़ार पौंड में

बेच सकती हैं। इन्हीं स्रोतों से मूल कोशिकाओं पर शोध और इलाज के लिए माल की सप्लाई होती है। रक्त कक्ष रेखा, खेड़ी, भ्रूणीय मूल कोशिका, भ्रूण आदि में भी विश्व स्तर पर व्यापार किया जाता है। अनेक कक्ष रेखाओं को वैश्विक विश्वविद्यालयों के वैज्ञानिकों, बायोटेक कम्पनियों द्वारा पेटेन्ट भी किया जाता है।

श्रम के मार्क्सवादी विश्लेषण के अनुसार एक श्रमिक का उत्पादन बतौर अतिरिक्त तभी वसूल होता है जब माल की बिक्री बाज़ार में होती है यानी जब माल श्रमिक से अलग हो जाता है। तो क्या प्रजनन श्रम के मामले में हम इसी तर्क का इस्तेमाल करते हुए यह कह सकते हैं कि अतिरिक्त की वसूली तभी होगी जब माल को एक वस्तु की तरह मूल कोशिका, कक्ष रेखा, पुनरुत्पादक चिकित्सा अथवा सरोगेट बच्चे के जन्म के लिए उपयोग किया जा सकेगा? (मार्क्स 1976ः पेज़ 251,262)

इसका अर्थ यह हुए कि उत्पादक को अतिरिक्त की वसूली तभी होगी जब वस्तु बिक जाएगी और अतिरिक्त श्रम की भी कीमत भी उसी समय आंकी जाएगी। प्रजनन श्रम के मामले में भी हम यही देखते हैं। जैसा कि सुंदरराजन लिखते हैं- "यहां पर मूल्य श्रम का नहीं बल्कि ज़िंदगी का है और स्वास्थ्य श्रम का मददगार साधन न होकर ज़िंदगी का सूचक बन जाता है।" (2007:81)

एक अन्य दार्शनिक ऑलिवर के अनुसार श्रम के अलगाव को लेकर मार्क्स का विश्लेषण श्रम के अन्य रूपों पर केवल लाक्षणिक तौर पर लागू होता है। परन्तु सरोगेसी के मुद्दे पर यह पूरी तरह सही बैठता है। सरोगेसी में उत्पादन एक बेजान वस्तु नहीं है बल्कि उत्पादन यानी बच्चा एक जैविक शरीर का सहज अंश होता है। ऐसी स्थिति में सरोगेट का दो बार अलगाव होता है- एक बार अपने जैविक शरीर से और दूसरी बार जैविक बच्चे से। उसकी आज़ादी दरअसल श्रम के अलगाव से उपजा एक धोखा, एक भ्रम है।

व्यावसायिक सरोगेसी पर यूरोप के अनेक देशों में रोक लगा दी गई है और फ्रांस में शरीर के किसी भी अंग के वस्तुकरण की इज़ाज़त नहीं है। जिस तरह से खून की बिक्री नहीं की जा सकती उसी तरह शुक्राणु, अंडाणु और कक्ष रेखाओं को भी बेचा नहीं जा सकता। शरीर का कोई भी अंग हम बेच नहीं सकते। इस खरीद-फरोख़्त का विश्व व्यापार संघ स्तर पर जैविक उत्पादनों के पेटेन्ट व सम्पत्ति अधिकारों पर होने वाल चर्चाओं पर गहन प्रभाव पड़ता है।

भारत में प्रजनन पर्यटन

भारत अब विश्व प्रजनन पर्यटन उद्योग के साथ जुड़ रहा है। इस उद्योग की संयुक्त राष्ट्र में कीमत 3 बिलियन डॉलर है। 1978 में भारत के पहले परख नली शिशु के जन्म के बाद सरकार ने मुंबई के "इंस्टिट्यूट फ़ॉर रिसर्च ऑन रिप्रोडक्शन" में आईवीएफ पर शोध को प्रोत्साहन दिया। इस अगुवाई को राज्य की मदद से स्वास्थ्य क्षेत्र में काम कर रहे निजी और कॉरपोरेट सेक्टर ने भी प्रोत्साहन दिया। आईसीएमआर के अनुसार 2005 में भारत में ढाई सौ आईवीएफ़ क्लीनिक थे। इण्डिन एआरटी सोसाइटी में छः सौ से अधिक क्लीनिकों की सदस्यता है। दिलचस्प बात यह है कि ये क्लीनिक अब भारत के छोटे शहरों में भी अपनी पकड़ बना रहे हैं। (समा 2010)

भारत सहायक प्रजनन तकनीकों और सरोगेसी के लिए एक गंतव्य के रूप में उभर रहा है जिससे सिर्फ़ सरोगसी व्यवसाय ही 445 मिलियन डॉलर मूल्य का है। भारत में आईवीएफ के एक चक्र की कीमत 500 डॉलर है जबकि संयुक्त राष्ट्र में इसका खर्चा 5000 डॉलर है। यह भी याद रखना ज़रूरी है कि भारत में सहायक प्रजनन तकनीक उद्योग मूल कोशिका उद्योग को नियमित रूप से अंडाणु मुहय्या करवाता है और ये आदान-प्रदान पूरी तरह से अनियंत्रित है।

हमारे देश ने मूल कोशिका शोध के लिए यूरोप की तीन कम्पनियों व ब्रिटिश सरकार के साथ सार्वजनिक-निजी साझेदारी का भी ऐलान किया है।

भारत में प्रजनन पर्यटन को न्यायसंगत ठहराने के पीछे यह दलील दी जाती है कि यह एक मुनाफ़े का सौदा है- अपने जैविक बच्चे को जन्म देने के लिए उत्सुक विदेशी महिलाएं अब भारतीय महिलाओं की मदद से ऐसा कर सकती हैं और भारतीय महिलाओं के लिए यह एक पैसा कमाने का साधन है।

सरकार ने बड़े हिचकते हुए इस तेज़ी से फैलते बाज़ार को नियंत्रित करने के लिए एक कानून का मसौदा तैयार किया है। पर जैसा कि पहले भी कहा गया है यह कानून सरोगेट महिलाओं के हितों के सुरक्षा प्रदान नहीं करता बल्कि उसी उद्योग की पैरवी करता है जिसे नियंत्रित करने के लिए इसकी ज़रूरत है। हालंकि प्रजनन पर्यटन को वैध ठहराने के लिए "प्रजनन चयन" की दलील पेश की जाती रही है परन्तु इस पूरी बहस में प्रजनन न्याय के विचार पर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। अध्ययन बताते है कि महिलाएं अपनी कोख किराए पर उठाने के लिए आर्थिक ज़रूरतों द्वारा बाध्य हो जाती हैं और इस प्रक्रिया के दौरान बिचौलिए और दलाल उनका फ़ायदा उठाते हैं। (पाण्डे 2009)

वैश्विक अर्थव्यवस्था में भारत खुद को समाहित करने के लिए प्रयासरत है। हम प्रभावशाली विकास दर और बाज़ार के उतार-चढ़ाव झेलने की क़ाबलियत का दावा भी कर रहे हैं। इसके लिए प्रजनन पर्यटन से मिलने वाली विदेशी पूंजी ज़रूरी साधन है। भारत यौनिक और प्रजनन दासता को एक सार्वभौमिक वस्तु बनाकर वैश्वीकरण की दौड़ में शामिल हो गया है। तो क्या ऐसे समय में हमें व्यावसायिक सरोगेसी पर नियंत्रण की जगह प्रतिबंध लगाने की मांग नहीं करनी चाहिए? फिलहाल भारत में इस उद्योग को पूरी तरह अनियंत्रित रूप से चलाने की आज़ादी है। इसे नियंत्रित करके, सीमित तरीकों से इस व्यापार को चलाने की इजाज़त देकर भारत एक ऐसा अनोखा देश बन जाएगा जिसे अपनी महिलाओं के प्रजनन श्रम की बिक्री करने में गर्व महसूस होता है, कुछ वैसे ही जैसे दास प्रथा के दौरान अपने दासों के श्रम को बेचकर उनके मालिक और स्वामी गौरवान्वित महसूस करते थे।

__मोहन राव__ जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के सेंटर फ़ॉर सोशल मेडिसिन एण्ड कम्यूनिटी हैल्थ में कार्यरत हैं।

संख्या

पवन करण

जिसका फोटो मेरे साथ घर की बैठक में लगा है
उस पर मेरे हाथ ने आज तक उठने की हिम्मत नहीं की
लेकिन जिसने मेरी तरह एक ही कोख से लिया जन्म
उसकी पीठ पर वहां हर रोज़-नीले निशान बनते और
बिगड़ते हैं
दुनिया की उन चार करोड़ स्त्रियों में शामिल है वह
जिन्हें उनके घरों में हर रोज़ पीटा जाता है
चार करोड़ स्त्रियों में उसकी क्रम-संख्या कौन सी होगी
पहली, दसवीं, सौवीं, हज़ारवीं या फिर चार करोड़वीं
या फिर बीच की संख्या कोई, या हो सकता है
सही न हो यह अनुमान, और आंकड़ा इससे भी हो ऊपर
उसका क्रमांक चार करोड़वीं महिला से भी हो अधिक,
या फिर वे सबकी सब आपस में गडमड, उनमें
न कोई पहली, न आखिरी, सब एक संख्या हों चार करोड़
किसी रोज़ इस पृथ्वी के किसी एक हिस्से पर
इकट्ठी हो जाएं वे सारी चार करोड़
और उनके साथ-साथ वे भी जो छूट गई इस आंकड़े से
और वे वहां शुरू कर दें एक साथ विलाप
और कहें यही हमारा सविनय अवज्ञा आन्दोलन
यही हमारा विरोध मार्च और यह नारा दुष्टों
दुष्टता छोड़ो
डरता हूं जिसे मैंने घर से किया विदा
कहीं वह इन चार करोड़ से निकलकर
दुनिया-भर की उन पांच करोड़ महिलाओं में
न हो जाय शामिल जो कि लापता हैं
आखिर वे सब भी तो इसी झुंड से निकलकर,
गई होंगी उस झुंड में
चार करोड़ पिटने वाली महिलाएं
पांच करोड़ लापता हो चुकी महिलाएं
नौ करोड़ की यह संख्या
कोई छोटी संख्या नहीं
आप इसे अपने सामने रखकर तो देखिए!

__पवन करण__ हिन्दी साहित्य जगत के कवि हैं।

आमने-सामने

किराए पर कोख

आरती धर

भारत की 'दुग्ध नगरी' नाम से परिचित इस शहर के बीचों-बीच *आकांक्षा गर्भाधान क्लीनिक* व होस्टल है जहां विदेशी दम्पतियों को अपनी कोख किराए पर देने वाली औरतें रहती हैं। गरीबी से परेशान ये औरतें पैसों के एवज़ में किसी दूसरे के लिए बच्चे को जन्म देती है। सरोगेट मातृत्व आज एक फलता-फूलता उद्योग है जिसके कारण इस क्लीनिक का व्यापार बड़े ज़ोर-शोर से चलता रहता है। गरीब, अनपढ़ औरतों की निरन्तर सप्लाई और कानून के अभाव ने इस धंधे को पैसा कमाने का अच्छा साधन बना दिया है।

यहां रहने वाली औरतों से बातचीत करने पर कुछ खास बातें सामने आती हैं। एक बेलदार की पत्नी नाज़िरा अपने परिवार की आर्थिक तंगी दूर करने के इरादे से यहां आई है। बच्चा पैदा होने के बाद उसे अनुबंध के अनुसार 3.5 लाख रुपये मिलेंगे। इसक अलावा उसे नौ महीनों तक एक अच्छी खासी माहवार रकम भी मिलती है। अगर वह जुड़वां बच्चों को जन्म देती है तो 'पार्टी' उसे रकम का 20% अधिक देगी।

एक अन्य महिला अपनी बेटी की शादी के लिए रुपये इकट्ठे करने के इरादे से अपना गर्भाशय किराए पर उठाने को राजी हो गई। क्लीनिक में काम करने वाली एक महिला दो विदेशी जोड़ों के लिए तीन बच्चों को जन्म दे चुकी है। वह बताती है— 'पहले मैं अपने किराए के मकान से छोटे से घर में रहने गई और दूसरी बार में मैंने एक बड़ा सा मकान बना लिया।'

स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय के एक वरिष्ठ अफ़सर बताते हैं कि हमारे देश में प्रतिनिधि कोख या सरोगेसी को लेकर कोई कानून नहीं है। यह वैध या अवैध नहीं है हालांकि समाज के अलग-अलग वर्गों से नागरिक इससे जुड़े नैतिक, सामाजिक, कानूनी और आर्थिक मुद्दों को उठाते रहे हैं।

भारत में गरीबी और अज्ञानता के चलते अमरीकी और अंग्रेज़ दम्पती भारत आते हैं और अपने देशों से आधी से भी कम कीमत में इन औरतों की सेवाएं हासिल करते हैं। विदेशों में सरोगेसी का ख़र्चा तो ज्यादा है ही पर इसके साथ-साथ वहां कई तरह के कानूनी प्रतिबंध भी हैं। कई यूरोपीय देश तो सरोगेसी की इजाज़त भी नहीं देते।

भारत के विभिन्न शहरों के क्लीनिकों में बात करने से अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि यह व्यवसाय हमारे देश में किस हद तक फैला है। खर्चा लगभग आठ से दस लाख तक का होता है। डाक्टर दलाल का काम करते हैं और कोख किराए पर देने वाली महिला को कुल रकम में से पचास प्रतिशत से भी कम मिलता है।

इन क्लीनिकों पर नियंत्रण करने वाला कोई कानून या सहायक प्रजनन तकनीकों पर कोई बाध्य दिशानिर्देश नहीं हैं। 2005 में आईसीएमआर ने कुछ दिशानिर्देश जारी किए थे पर ये भी कानूनी तौर पर बाध्य नहीं हैं। इन दिशानिर्देशों के आधार पर आईसीएमआर ने एक *सहायक प्रजनन नीति नियंत्रण अधिनियम 2010* तैयार किया है जिसे संसद के शरदकालीन सत्र में प्रस्तुत किया जायेगा।

सरोगेसी व्यापार को जायज़ करार देते हुए *आकांक्षा गर्भाधान क्लीनिक* की डा. नैना पटेल दावा करती हैं कि हर महिला उनके साथ अपनी मर्ज़ी से अनुबंध करती है। "हम गर्भावस्था में देखभाल के अलावा उन्हें ऐसे जीवन कौशल सिखाते हैं जो भविष्य में उनकी मदद करेंगे। हमारी तकनीकें उच्च कोटि की हैं और हम सभी दिशानिर्देशों का पालन करते हैं।"

प्रजनन क्लीनिकों के साथ जुड़ा एक चौंकाने वाला सत्य है यहां आने वाले

दम्पतियों का जाति और बच्चों के लिंग के प्रति रवैया। *आकांक्षा क्लीनिक* की डा. नैना पटेल ने बताया, 'हमारे पास आने वाले पचास प्रतिशत दम्पती अपनी ही जाति की महिला की कोख किराए पर लेने की मांग रखते हैं।' कुछ रिपोर्टों से यह भी पता चलता है कि बिहार में कुछ लोग अपनी जाति के व्यक्ति से शुक्राणु या अंडाणु लेने की भी इच्छा व्यक्त करते हैं।

समा (प्रजनन स्वास्थ्य पर कार्यरत नारीवादी समूह) ने 2008-2010 के बीच उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु और उड़ीसा में एक अध्ययन किया जिसके तथ्यों के आधार पर उन्होंने अनैतिक प्रजनन व्यवहारों को उजागर करते हुए सहायक प्रजनन तकनीकी उद्योग के नियंत्रण की मांग रखी। इस शोध में 43 सहायक प्रजनन तकनीक सेवा-प्रदाता व 86 महिला उपयोगकर्ताओं (जो आईवीएफ, आईयूआई, आईसीएसआई के ज़रिए उपचार करा रही थीं) का साक्षात्कार किया गया। पहुंच व नियंत्रण के साथ-साथ इस शोध का मकसद सहायक प्रजनन तकनीक के औद्योगिक पहलुओं की जांच करना भी था जिसमें महानगरों व छोटे शहरों के क्लीनिकों के आपसी संबंधों की समीक्षा भी शामिल थी। *समा* द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट में दर्ज है कि उपचार में मानकीकरण का अभाव, बच्चों के जन्म में अंतर और प्रक्रियाओं का खर्च आदि कुछ खास समस्याएं हैं जिनका सामना महिलाओं को करना पड़ता है।

शोध से यह भी निकलकर आया है कि कुछ विशेष चिकित्सीय तकनीकों जैसे एक्टोपिक गर्भ, अण्डाशय अति उत्तेजना लक्षण, अनेक संतानोतपत्ति से होने वाले दुष्प्रभावों के बारे में महिलाओं को जानकारी नहीं दी जाती।

चिकित्सीय विशेषज्ञ अमर जेसानी बताते हैं, "जब एक महिला को भारी मात्रा में हारमोन दिए जाते हैं तब उसका शरीर बार-बार अंडाणु पैदा करने लगता है जो उसके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। अंडाणु पैदा करना व सरोगेसी दोनों स्थितियों में औरत की जान को खतरा हो सकता है। यह रक्तदान या अंगदान की तरह ही है— इसे बार-बार और अनियंत्रित रूप से नहीं किया जा सकता।"

समा की रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि महिला की रज़ामंदी लेना महज़ औपचारिकता है क्योंकि फार्म में लिखी शर्तों के बारे में उसे पूरी जानकारी नहीं दी जाती। कई ऐसे मामले सामने आए हैं जहां कोई अनुबंध या रज़ामंदी नहीं ली गई है या फिर फार्म पर उससे अंगूठा लगवा लिया गया है। महिला का कोई बीमा भी नहीं कराया जाता। लिंग परीक्षण, अनेक भ्रूण आरोपण, रजोनिवृत्ति के पश्चात गर्भधारण के प्रयास आदि कुछ अन्य समस्याएं भी सामने आई हैं जिनका महिलाओं के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। *समा* की रिपोर्ट के अनुसार भारत विश्व मानचित्र में व्यावसायिक सरोगेसी, अंडाणु दान कार्यक्रम जैसी सेवाएं मुहय्या कराने वाले देश के रूप में भी ख़ुद को स्थापित कर रहा है।

हमारे समाज में बेटों की चाह को देखते हुए यह समझना मुश्किल नहीं है कि सहायक प्रजनन तकनीक की मदद से दम्पतियों को बेटा पैदा करने में सहायता की जा सकती है। प्रजनन उद्योग भारत में चिकित्सा पर्यटन का अभिन्न अंग है। इस उद्योग में सन् 2000 में तीस प्रतिशत तथा 2005-10 के बीच पंद्रह प्रतिशत बढ़ोत्तरी देखी गई है। भारतीय औद्योगिक संघ के अध्ययन से सामने आया है कि यह उद्योग बड़ी तेज़ी से प्रगति कर रहा है और अनुमानित है कि 2012 के अंत तक 2.3 बिलियन डॉलर की उन्नति हासिल कर लेगा। आईआईएम, बंगलुरु की प्रोफ़ेसर रूपा चंदा के अनुसार, 'चिकित्सीय पर्यटन उद्योग में विश्वस्तर पर चार ट्रिलियन डॉलर की बढ़त अनुमानित है— और प्रजनन उद्योग जो इसका अभिन्न अंग है, में एक से दो बिलियन डॉलर की बढ़ोत्तरी संभव है।'

हालांकि भारत में प्रजनन क्लीनिकों के बारे में कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं पर आईसीएमआर ने कुल मिलाकर 886 क्लीनिकों की पहचान की है जहां इस प्रकार की सेवाएं मुहय्या कराई जाती हैं। इसके अलावा सहायक प्रजनन तकनीक सलाहकार, चिकित्सीय टूर ऑपरेटर, सरोगेसी दलाल, पर्यटन जैसी सुविधाएं भी राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ग्राहकों के लिए उपलब्ध हैं।

सामाजिक कार्यकर्ता बृंदा कारत का दृढ़-विश्वास है कि व्यावसायिक सरोगेसी, नैतिक और आर्थिक मूल्यों को अलग नहीं किया जा सकता। उनका मानना है कि सरकार को प्रस्तावित कानून पारित कर देना चाहिए हालांकि उसमें काफ़ी कमज़ोरियां हैं।

__आरती धर__ पेशे से पत्रकार हैं।

आमने-सामने

हमारा शरीर, हमारा हक़

गौतम भान

14 जून 2012, बृहस्पतिवार को एशियाई खेलों में स्वर्ण पदक जीतने वाली एथलीट पिंकी प्रमाणिक को एक ‘पुरुष’ होने और बलात्कार करने के आरोप में पुलिस द्वारा हिरासत में ले लिया गया। पिंकी की गिरफ़्तारी के समय वहां कोई महिला कांस्टेबल मौजूद नहीं थी। 26 दिनों तक पिंकी को बिना ज़मानत जेल के मर्दाने वार्ड में रखा गया।

हांलाकि शुरू में पिंकी ने लिंग परीक्षण करवाने से इंकार कर दिया था पर 16 जून को ज़बरदस्ती एक निजी क्लीनिक में पुलिस ने उसका लिंग परीक्षण करवाया और प्रेस कांफ्रेंस में घोषित किया कि पिंकी एक पुरुष है। इस परीक्षण के दौरान भी कोई महिला पुलिस, राज्य द्वारा नियुक्त स्त्री रोग विशेषज्ञ, परामर्शदाता या अंतःस्रावी विशेषज्ञ मौजूद नहीं थे। कुछ दिनों बाद पिंकी का दोबारा लिंग परीक्षण किया गया जिसका नतीजा ‘अनिश्चित’ पाया गया। फिर कुछ दिनों बाद एक तीसरा परीक्षण किया गया जिसमें पिंकी के हाथ-पांव बांध दिए गए थे। इस परीक्षण के नतीजे से पता चला कि पिंकी के शरीर में XY गुणसूत्र थे जो अधिकतर पुरुषों में पाये जाते हैं और उसके अलावा ‘स्त्री जननांग नालिका व बाहरी जननेंद्रिय’ भी थे। इस लेख के लिखने के समय पिंकी को जमानत पर छोड़ दिया गया था।

जिस मामले में ‘तथ्य’ जटिल और विवादस्पद दोनों हों वहां हम एक ऐसी बात से शुरूआत करते हैं जो अविवादित होनी चाहिए- पिंकी प्रमाणिक कहती है कि वह एक स्त्री है। वह एक स्त्री की तरह रहती है, उसी तरह प्रतियोगिता में भाग लेती है और यही उनकी पहचान है। उसके अलावा कोई भी अन्य व्यक्ति या संस्थान विशेषकर कानून या चिकित्सा शास्त्र को यह तय करने का अधिकार नहीं है कि उसकी लैंगिक पहचान क्या है। और इस बात का उसके गुणसूत्रों, हारमोन और शारीरिक बनावट से कोई लेना-देना नहीं है। जांच-पड़ताल शुरू करने के पहले उसकी इस औरताना पहचान को स्वीकारा जाना ज़रूरी था, बगैर इस बात की परवाह किए कि उनके शरीर, स्वभाव, कपड़ों और रूप-रंग के आधार पर हम क्या सोचते हैं। पुलिस द्वारा उसके अधिकारों के हनन की फेहरिस्त लम्बी है- पुरुषों की जेल में गिरफ़्तारी के दौरान बंद रखना; पुरुष पुलिस अधिकारियों द्वारा शारीरिक और यौनिक प्रताड़ना; लिंग परीक्षण के समय उसकी फ़िल्म बनाना और फिर उस फ़िल्म के एमएमएस का लीक होना; अस्पताल में ज़बरदस्ती उसका लिंग परीक्षण जो बिना किसी मजिस्ट्रेट के आदेश से किया गया और जिसे पुलिस ने ज़मानत की शर्त के रूप में उसे करवाने को बाध्य किया। यह एक अच्छी खबर है कि पश्चिमी बंगाल में मानव अधिकार आयोग, साइबर क्राइम ब्यूरो और कोलकाता उच्च न्यायालय ने इस मानव अधिकार हनन के तहकीकात की मांग रखी है।

फिर भी हमें रुककर यह सोचना चाहिए कि पिंकी के अधिकारों का हनन क्यों हुआ? पिंकी का मामला समाज और राज्य के साथ हमारे बुनियादी संघर्ष का अंकन है। बतौर समाज हम अपने से फ़र्क़ या कम गरिमामय समझे जाने वाले जाति, धर्म, लैंगिक अथवा यौनिक फ़र्क़ वाले शरीर के परीक्षण, पड़ताल, अंकन, सार्वजनिक रूप से निर्वस्त्र करने, जांच, बहस और निर्णय का मुद्दा बनाने की इजाज़त देते हैं। इसके अनेक उदाहरण हैं- बलात्कार का आरोप लगाने वाली महिला का यौन चरित्र जांचने के लिए जननांग में दो उंगली डालने वाला परीक्षण; पुलिस हिरासत में हिजड़ों के साथ यौन हिंसा; भारत के शहर-गांवों में दलित औरतों व पुरुषों को निर्वस्त्र घुमाने की सज़ा; या युवा मुसलमान लड़कों के आंतकवादी होने का शक़ होने पर पुलिस प्रताड़ना को जायज़ करार देना आदि। पिंकी से भी पूरे देश ने यह प्रश्न नहीं पूछा कि वह कौन है बल्कि उसे यह पूछा गया कि वह ‘क्या’ है- एक सार्वजनिक तमाशा जिसने उसे कानून की ज़रूरत के अनुसार वर्गीकृत की जाने वाली वस्तु बना दिया।

यह स्पष्ट है कि मामला कानून और चिकित्सा विज्ञान की बहसों के बीच ही आगे बढ़ेगा। "वह क्या है" प्रश्न का उत्तर "लिंग-परीक्षण" से दिया जाएगा और इस बहस-परीक्षण के बीच एक औरत की तरह बितायी पिंकी की ज़िंदगी, महज़ गुणसूत्रों, हारमोन के स्वभाव, जो जैविक लिंग को 'पुरुष' व 'स्त्री' की कसौटी पर जांचते हैं के आधार पर नज़रअंदाज़ कर दी जाएगी। हांलाकि अमरीकन मेडिकल एसोसिएशन के जर्नल के अनुसार लिंग परीक्षण को "कठिन, मंहगा और अधिकतर गलत" माना गया है। इस शोध के अनुसार पुरुषों और स्त्रियों के हारमोन व जननांग विकास में बहुत अंतर होता है। यह भी याद रखना ज़रूरी होता है कि यह विज्ञान भी पूरी तरह सटीक नहीं है। पिंकी का लिंग परीक्षण इस बात का प्रमाण है।

कानून, सामाजिक नियमों और खुद अपने आंतरिक खौफ़ के चलते हम 'स्त्री' और 'पुरुष' को अलग करने वाली सीमाओं को सुरक्षित और कायम रखने का प्रयास करते हैं। जबकि हमारे जीवन की सच्चाइयां बार-बार हमें दिखाती-समझाती हैं कि जैविक लिंग को XX या XY में वर्गीकृत करना आसान नहीं है। हारमोन को गुलाबी-नीली कतार में नहीं बांट सकते और स्त्री-पुरुष हमेशा 'नियमों' के अनुसार ज़नाने व मर्दाने नहीं बने रहते। कुछ लोग जैविक रूप से स्त्री-पुरुष दोनों होते हैं। लैंगिक पुनर्आबंटन से जैविकी को बदला जा सकता है ठीक उसी तरह जैसे हृदय प्रत्यारोपण या पेस-मेकर के ज़रिए दिल को दोबारा ठीक से धड़काया जा सकता है। हमारी लैंगिक पहचान हमारे जैविक लिंग से स्वायत्त हो सकती है। तो फिर हमें अपने आप से कुछ ऐसे सवाल पूछने चाहिए: "वह कौन है"— इस प्रश्न के उत्तर में पिंकी किस प्रकार का उत्तर दे सकती है? हम उसके किस उत्तर को स्वीकार करने को तैयार हैं।

हमने समाज में लैंगिक फ़र्क़ और तरलता को स्वीकारने के लिए संघर्ष किया है जिसके नतीजतन हमें ऐसे कानूनी नियम और भाषाएं मिली हैं जो सभी फ़र्क़ों को उन वर्गों में सीमित करने को बाध्य करती हैं जिन्हें हम समझते हैं। हाल ही में कुछ सरकारी दस्तावेज़ों के लैंगिक वर्गक्रम में "अन्य" का शामिल होना एक छोटी सी सकारात्मक शुरूआत है जो इस बात का संकेत है कि राज्य लैंगिक जटिलताओं को समझने का प्रयास कर रहा है।

हमें आर्जेन्टीना से भी काफी कुछ सीखना होगा। वहां जैविक लिंग से अलग होकर लोगों को अपनी लैंगिक पहचान चुनने की आज़ादी है। हमारे कानून कैसे होंगे अगर हम चाहें कि वे लैंगिक तरलता और पहचानों को समाहित करने की कोशिश करें? पिंकी का केस हमें यह याद दिलाता है कि हमें अभी बहुत दूर तक जाना है और जब तक हम वहां नहीं पहुंचते तब तक "अलग" समझे जाने वाले समूह अरक्षित ही रहेंगे। और यह सिर्फ़ हम ही मानते हैं, क्योंकि पिंकी तो खुद को एक औरत मानती है- अंतर-लैंगिक या पार-लिंगी नहीं।

पिंकी पर गंभीर आरोप लगाए गए हैं और मैं यह स्पष्ट तौर पर मानता हूं कि इन आरोपों की जांच-पड़ताल की जानी चाहिए। पर जांच उसके व्यवहार की होनी चाहिए व्यक्तित्व की नहीं। पिंकी के साथ जांच के दौरान होने वाले कार्यवाहिक हनन और दुर्व्यवहार को मद्देनज़र रखते हुए यह स्पष्ट है कि पिंकी के मामले में कानूनी प्रक्रिया निष्पक्ष व वैध नहीं रही है।

इस पूरे मामले से हम न्यायसंगत जांच, लैगिंक रूप से भिन्न नागरिकों के हक़ों तथा सबके लिए गोपनीयता और सम्मान की अहमियत से संबंद्ध महत्वपूर्ण सबक सीख सकते हैं। पिंकी के मामले की जांच-पड़ताल आगे बढ़ने के साथ-साथ ही हमें न्याय के इस बुनियादी प्रश्न को याद रखना होगा- अगर पिंकी ने वास्तव में कोई हिंसा या अपराध किए हैं तो उसके ख़िलाफ़ कार्यवाही अवश्य की जानी चाहिए। पर तब तक एक समान नागरिक, जिसकी अपनी एक अलग लैंगिक पहचान है की हैसियत से इंसाफ़ पाने के उसके अधिकार की सुरक्षा राज्य और हम सभी को मिलकर करनी होगी।

__गौतम भान__ यौन अधिकार कार्यकर्ता हैं।

लेख

महिला अधिकार-न्यायिक संवदेनशीलता के प्रश्न

सुनीता ठाकुर

मैंने एक जगह पढ़ा था- 'न्याय प्रमाणं स्यात्' यानी प्रमाण ही न्याय होता है। पर जहां प्रमाण ही न हों, वहां...? जैसे वैवाहिक संदर्भों से जुड़े मामले! एक मामले में देश की सर्वोच्च अदालत ने कई तर्कों के आधार पर फ़ैसला सुनाया- 'यदि महिला अपनी मर्ज़ी से पति का घर छोड़कर जाती है तो पति उसे गुज़ारा भत्ता देने के लिए बाध्य नहीं है।' सवाल उठता है कि हम सबूतों की बिनाह पर जो फ़ैसले लेते हैं वे कितने सही हो सकते हैं या होते हैं! महिला का पारिवारिक और सामाजिक संदर्भ, हमारे समाज की सोच और दबाव, महिलाओं की आर्थिक स्थिति और विकल्पहीनता क्या इसमें कोई मायने नहीं रखती?

कानूनी दांवपेंचों और तर्कशीलता से इतर क्या हम इस बात पर भी गौर कर सकते हैं कि महिलाएं पति से गुज़ारा भत्ता अपने पास और कोई दूसरा स्थायी विकल्प न होने की स्थिति में ही मांगती हैं। कानून एक ओर इसे विवाहित महिला का अधिकार मानता है और दूसरी ओर इस तरह के फ़ैसले महिलाओं के इस अधिकार को मखौल बनाते से लगते हैं। फ़ैसले में मर्ज़ी की बात कही गई है-लेकिन क्या इस मर्ज़ी को हमारा कानून परिभाषित कर सकता है? अपने ही परिवार को छोड़कर एक विकल्पहीन सामाजिक और पारिवारिक व्यवस्था के ख़िलाफ़ जाने का साहस हमारे देश की महिलाएं सहज रूप से कर सकती हैं- यह बात तर्क से परे लगती है।

महिलाएं अपने वैवाहिक घर में पति या ससुरालवालों के अत्याचारों को सहकर भी हद दर्जे की सहनशीलता को अपनाती हैं और असह स्थितियां हो जाने पर जब वह घर छोड़ती हैं तो क्या इसे उनकी मर्ज़ी मान लिया जाना चाहिए?

क्या आत्महत्या को सिर्फ़ इसलिए गुनाह न माना जाए कि वह व्यक्ति अपनी मर्ज़ी से करता है-उसे उन हालातों तक पहुंचाने और विवश करने वाले व्यक्तियों और संदर्भों को क्या यूं ही छोड़ दिया जाना चाहिए? क्या एक महिला को सम्मान सहित अपने वैवाहिक घर में रहने और जीने का अधिकार नहीं है? अगर हां तो फिर झगड़ों को जन्म देने वाले हालात और व्यवहारों को पहचानते हुए उन्हें सुधारने की ज़रूरत होनी चाहिए कि परेशान हाल परिवार से अलग हुई महिला के रहे सहे चंद कानूनी अधिकारों पर सवालिया रोक लगाई जानी चाहिए? इस तरह के फ़ैसले क्या महिलाओं के प्रति हमारे कानून के दोगले और अंसवेदनशील नज़रिये को नहीं ज़ाहिर करते?

वास्तव में हमारा न्यायतंत्र आज तक सबूतों और तर्कों की जिस भाषा को अपनाता रहा है-पारिवारिक मामलों में वह किसी भी तरह तर्कसंगत और उपयोगी साबित नहीं हो सकतीं। दैनिक जीवन में परिवार

के सदस्यों के व्यवहारों, बातचीत और जीवनचर्या में बहुत कुछ ऐसा होता है जिसके कोई सबूत रोज़ाना इकटठे नहीं किए जा सकते। और यदि कोई महिला ऐसा करने का दुस्साहस कर भी ले तो उसे तुनकमिजाज़, झगड़ालू, असहनशील और भी न जाने कैसे-कैसे आरोपों का सामना करना ही पड़ता है।

कानून यदि महिलाओं को बराबरी और व्यक्तिगत सम्मान और पहचान की गारंटी देता है तो उसे उन हालातों को बेहतर बनाए रखने की गारंटी भी देनी होगी ताकि महिलाएं अपने वैवाहिक घर में अधिकार और सम्मान के साथ रह सकें। औरतों को बचपन से मां-बाप इसी एक पहचान के साथ पालते हैं कि वे जो भी कर, सीख लें अंत में जाना उन्हें दूसरे ही घर है जो उनका अपना होगा और विवाह के बाद वे जिस घर में जाती हैं-पूरी उम्र निकल जाती है उस घर के सदस्यों में अपनापन ढूंढते। सच यही है— औरतों का न तो पिता का घर अपना रहने दिया जाता है और न वैवाहिक घर उसका हो पाता है। हम औरतों से पैदा संतानों को तो अपना सकते हैं मगर उन संतानों को जन्म देने वाली बहुएं सदैव अपने मायके और ससुराल के लिए पराई ही बनी रहती हैं।

अपने अनुभवों से मैं कितने ही उदाहरण ऐसे दे सकती हूं जहां पति ने औरत को गुज़ारा भत्ता न देने के लिए समय से पूर्व ही अवकाश ले लिया, खुद को दिवालिया घोषित कर दिया, पति अपनी नौकरी छोड़कर भाग गया या ससुराल वालों ने उसे कानूनन अपनी संपत्ति और परिवार से बेदखल कर दिया। ऐसे में महिलाएं क्या करें? जिस परिवार में वह रह रही हैं वहां अगर उसका जीना हराम कर दिया जाए तो वह क्या करे- उसी घर में फनां हो जाए मगर अपनी 'मर्ज़ी' से घर न छोड़े। वाह क्या तर्क है!

तो क्या हम गुज़ारा भत्ता जैसे प्रश्न को औरत की मर्ज़ी/न मर्ज़ी से इतर उसकी आर्थिक निर्भरता और मज़बूती से जोड़कर देख सकते हैं? क्या महिलाओं के प्रति पुरुषवादी नज़रिया छोड़कर इंसानी अधिकार की नज़र से मामलों की परख की की जा सकती है? क्या हम मान सकते हैं कि भारतीय समाज में कानून से पहले उसका तोड़ निकाल लेने की मानसिकता बहुत बड़ी भूमिका अपनाती है?

एक अन्य मामले में स्थानीय अदालत तथा सत्र अदालत ने तलाक़शुदा पति द्वारा महिला के साथ जबरन यौन उपभोग को बलात्कार न मानते हुए मामले को खारिज कर दिया।

अब आप सोचिए कि हमारी सामाजिक और पारिवारिक व्यवस्था में बच्चे की कस्टडी अपने पास ले लेने वाले पिता के घर एक महिला को जाना पड़ता है क्योंकि उसे पता चलता है कि उसका बच्चा बीमार है। महिला पति के घर जाती है और बच्चे की देखभाल के लिए किन्हीं भी निजी, भावनात्मक, पारिवारिक या सामाजिक कारणों और दबावों से वहां रुक जाती है। तो क्या उसके तलाक़शुदा पति को यह हक़ मिल जाता है कि वह अपनी भूतपूर्व पत्नी के साथ यौन-ज़बरदस्ती करे? क्या बच्चे की कस्टडी प्राप्त पिता के घर में तलाक़शुदा पत्नी का प्रवेश या बच्चे से मिलना इतना बड़ा गुनाह हो सकता है कि उसका पति उसे किसी भी कारण से उपभोग करने का पुनः अधिकार प्राप्त कर ले?

यहां बात अगर रज़ामंदी की होती तो समझ में आती- मगर रज़ामंदी होती तो महिला मामले को कोर्ट में क्यों लाती? और फिर रज़ांमदी का आधार क्या है? यह एक कानूनी बहस का मुद्दा होना चाहिए। इस रजामंदी में परिवार के हालात, महिला की मजबूरी कितनी अहम् हो सकती है यह भी समझना ज़रूरी है। क्या 'तलाकशुदा पति' के घर में महिला के जाने के कारणों, उसके वहां रुकने के हालात, घटना के दिन के हालात और व्यवहारों पर पारिवारिक और उसे व्यक्ति से जुड़े मज़हबी कायदे कानून या मानसिकता के संदर्भ में नहीं आंके जाने चाहिए?

सबसे बड़ी बात तो यह कि मानवीय संबंधों और व्यवहारों से जुड़े मामलों में कहीं भी ब्लैक एंड वाइट नहीं चल सकता-उसमें बहुत ऐसा होता है जिसे हम 'ग्रे ज़ोन' कह सकते हैं और सारी करामात व्यक्ति के मज़हब, परिवार, भावनाओं और मानसिकता से जुड़े 'ग्रे ज़ोन' में छिपी होती है।

अफ़सोस कि हमारा कानून महिलाओं के संदर्भ में इन तमाम बातों पर गौर नहीं करता और इसी को हम अपने न्यायतंत्र में जेंडर संवेदनशीलता का अभाव कह सकते हैं। हम यह क्यों नहीं समझते कि परिवार में पुरुष की सत्ता

से सिर उठाने वाली, चुनौती देने वाली महिला को घर से बाहर का रास्ता दिखा दिया जाता है-वह परिवार में हुकुम की गुलाम बनकर हर ज़्यादती सहती रहे तो ठीक-आवाज़ उठाए तो घर से बाहर और सज़ा की हक़दार। अगर परिवार जैसी छोटी इकाई में 'हुक्मउदूली' का यह परिणाम है तो कचहरी में जाकर पुरुष की सत्ता को सार्वजनिक चुनौती देने का साहस करने वाली महिला को सबक सिखाने के लिए तो किसी भी हद तक पुरुष जा ही सकता है। उसमें सबूतों से छेड़छाड़ और झूठी गवाहियां कौन बड़ी बात है।

मैं यहां केवल स्त्रियों की पक्षधरता में नहीं बोल रही, बल्कि उन सामाजिक और पारिवारिक सच्चाइयों की ओर ध्यान दिला रही हूं जिनके रहते औरतों की सही मांगों और बातों को भी गलत और झूठा करार दे दिया जाता है।

एक और मामले में एक अप्रवासी भारतीय मां जो अपने बेटे को लेकर भारत में जगह-जगह शरण लेने के लिए भटक रही है, कानूनी भाषा में फरार है। अमरीकी अदालत द्वारा उसे व उसके पति को बच्चे के संयुक्त मिलने के अधिकार दिए गए हैं। मगर मां को जाने कौन सा डर सता रहा है कि वह बच्चे को अकेले अपने पास रखने के लिए मारी-मारी फिर रही है। अब कानूनी तौर पर देखें तो यह गलत है-मगर इंसानी नज़र से क्या उस मां की भावनाओं और डर को समझा नहीं जाना चाहिए? क्या हम उन हालातों और कारणों पर गौर नहीं कर सकते जो उसे इस तरह के व्यवहार और कदम के लिए मजबूर बनाते हैं?

एक तीसरे मामले में- महिला का पति भारतीय सरकार के खुफ़िया एजेंसी 'रॉ' का उच्च अधिकारी था। इस अधिकारी ने एक विदेशी महिला के साथ बाकायदा शादी की और वह उसे व बच्चे को अपने साथ लेकर भारत आ गया। बच्चे को कश्मीर में अपने माता पिता के पास छोड़ा-मगर मां अपने बच्चे को मिलने और पाने के लिए तरस रही थी- तमाम सबूतों और कागज़ातों के बावजूद उसे न तो वह व्यक्ति मिलने के लिए तैयार था न ही बच्चे को मिलाने के लिए।

अन्ततः महिला हताश होकर अपने मुल्क वापस लौट गई। हमारी तमाम चर्चा एक ही तर्क पर ठहर जाती- 'रॉ' के अधिकारियों को कहीं भी अपनी पहचान छुपाकर जाने, रहने, विवाह करने तक का अधिकार होता है। मुझे नहीं मालूम यह सच है कि कोरी मिथ्या! मगर एक सवाल आज तक मेरे मन में कसकता है-औरत की अस्मिता और अधिकारों का दर्जा क्या हमेशा पुरुषों के आगे दोयम ही बना रहेगा? क्या उन्हें समान सम्मान और पहचान का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए?

इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा महिला को अपने देश वापस लौट जाने और वहां के अदालती आदेशों के अनुरूप पालन का आदेश दिया गया है। सवाल वहीं का वहीं-मां को बच्चे का प्राकृतिक अभिभावक माना जाए या नहीं? अगर माना जाए तो फिर यदि महिला अपने बच्चे की सुरक्षा के प्रति आश्वस्त नहीं है तो कहां से और कैसे मदद प्राप्त करे? अपने ही देश में अप्रवासी मानकर उसे निकाल दिया जाए या फिर उसके हालातों और मानवीय अधिकारों को सर्वोच्च मानकर सुरक्षा और आश्रय दिया जाए?

पति व ससुराल वालों द्वारा जानलेवा हमले की शिकार महिला थाने में अपने घावों का हवाला देती रह जाती है पर कानूनी प्रावधान के बावजूद 498 ए में पुलिस घरेलू हिंसा का मामला दर्ज नहीं करती। पति द्वारा अदालती आदेशों की धज्जियां उड़ाकर पत्नी को खर्चा-पानी नहीं दिया जाता। सवाल है- अदालत कितनी बार उसे जेल भेजे? और जेल भेजने से होगा क्या? क्या पति की पुश्तैनी ज़मीन के हक़ से पत्नी और उसकी संतान के भरण-पोषण का इंतज़ाम नहीं किया जाना चाहिए? पर यह सब करे कौन? वकील या अदालती विवेकाधिकार!

इन चंद सवालों को उठाने का मेरा मक़सद अदालती आदेशों की अवहेलना करना नहीं है। बस ये कुछ सवाल हैं जो एक औरत होने के नाते मन को कुरेदते हैं, कुछ संवेदनाएं हैं जो ऐसे मामलों और आदेशों को पढ़कर जागती हैं-हो सकता है सबूत और मामले के तथ्य कुछ और बयां करते हों मगर फिर भी.....

***सुनीता ठाकुर** महिला संबंधी मुद्दों पर लिखती हैं।*

संवाद

शहर में महिलाओं की सुरक्षा- कैसे?

कल्पना विश्वनाथ

भारतीय महिला आंदोलन ने औरतों के साथ रोज़मर्रा होने वाली हिंसा पर ख़ामोशी तोड़ने और इसे सम्बोधित करने के लिए प्रभावशाली कानून बनाने के लिए सरकार पर दबाव डालने में काफ़ी हद तक सफलता पाई है। घर की चारदीवारी और अंतरंग संबंधों पर चुप्पी तोड़ने से कम से कम इतना तो फायदा हुआ ही है कि आज इस हिंसा का चुनौती देने के लिए औरतें नागरिक और फ़ौजदारी दोनों रास्ते इख्तियार कर सकती हैं। ठीक इसी तरह कार्यस्थल पर यौन हिंसा और यौन उत्पीड़न के मुद्दों पर महिला समूह और अधिक प्रभावशाली व व्यापक कानून की मांग कर रहे हैं जो महिलाओं के विरुद्ध होने वाली हर प्रकार की हिंसा व हनन (जिसमें बलात्कार, उत्पीड़न, छेड़खानी, हमला आदि भी शामिल है), को संबोधित करने में सक्षम हो।

सार्वजनिक जगहों पर औरतों के साथ होने वाली हिंसा यौन हमले और यौन उत्पीड़न रोकने वाले ड्राफ़्ट कानून, दोनों के दायरे में आती है। हाल ही में संसद में पेश किया जाने वाला *फ़ौजदारी कानून संशोधन अधिनियम 2012* के दायरे में खण्ड 354 और 509 दोनों को शामिल किया गया है। सार्वजनिक स्थलों पर होने वाली हिंसा के मामले में इन दोनों खण्डों का इस्तेमाल किया जाता है। खण्ड 354— *महिला के सम्मान का हनन करने के इरादे से किया गया हमला या ज़ोर-ज़बरदस्ती* तथा खण्ड 509— *महिला के सम्मान को नुकसान पहुंचाने के इरादे से उपयोग किए शब्द, व्यवहार या इशारे* यौन हिंसा के विरुद्ध उपयोग किए जा सकते हैं। इन दोनों खण्डों के तहत होने वाले अपराध ज़मानती होते हैं जिनके लिए जुर्माना या एक-दो साल की कैद की सज़ा दी जा सकती है। *कार्यस्थल पर यौन हिंसा रोकथाम अधिनियम* भी पारित होने के बाद औरतों की सार्वजनिक स्थलों पर सुरक्षा के मुद्दे को सम्बोधित करने में कारगर साबित होगा। विशेषतः विश्वविद्यालय परिसर में होने वाली हिंसा और उत्पीड़न से बचाव के लिए इसे लागू किया जा सकेगा।

यहां यह कहना महत्वपूर्ण है कि पुलिस द्वारा औरतों की मदद के लिए कुछ सराहनीय कदम भी उठाए गए हैं जैसे मुंबई व दिल्ली में अश्लील कॉल विरोधी हैल्पलाईन जहां महिला फ़ोन करके अपनी शिकायत दर्ज कर सकती है।

हालांकि ये सभी कानून महत्वपूर्ण और ज़रूरी हैं पर सच्चाई यह है कि अक्सर सार्वजनिक जगहों पर होने वाली हिंसा का रिपोर्ट दर्ज नहीं की जाती। दिल्ली शहर में किए गए शोध से पता चला कि प्रत्युत्तर देने वाली 1000 महिलाओं में से केवल 10 प्रतिशत ने पुलिस में हिंसा की रिपोर्ट दर्ज कराई थी यानी अधिकांश समय हिंसा की वारदात को दबाकर रखा जाता है। उदाहरण के लिए भीड़-भाड़ वाली बस और सार्वजनिक जगहों पर होने वाली हिंसाएं अक्सर अज्ञात होती हैं जिनमें अपराधी को पहचानना मुश्किल होता है। उसी तरह अंधेरी, सुनसान जगहों पर हिंसा का सामना होने पर औरत वहां से सुरक्षित निकल जाना चाहती है और कुछ भी ठोस या पुख्ता सबूत न होने पर वह पुलिस के पास जाने से हिचकिचाती है। रिपोर्ट दर्ज न कराने के पीछे कुछ अन्य कारण भी हैं— जैसे अपराधी का कुछ घंटों में ज़मानत पर छूट जाना, न्यायिक प्रक्रिया में लगने वाला लम्बा समय और दोषी को कुछ महीनों की सज़ा और मामूली जुर्माना अदा करके रिहा होकर आज़ादी से घूमना। यह सब औरत को और अधिक अरक्षित और कमज़ोर महसूस कराता है।

इसके अलावा आज भी पुलिस थाने में रिपोर्ट दर्ज कराना एक आसान प्रक्रिया नहीं है— महज़ एक एफआईआर लिखवाने के लिए औरतों को अपनी 'नैतिकता' और 'इज़्ज़त' से जुड़े अटपटे सवालों का जवाब देना पड़ता है।

एक दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि हिंसा से अधिक औरतों को हिंसा का डर परेशान करता है जिसके नतीजतन उनका आत्म-विश्वास डगमगा जाता है और वे सार्वजनिक जगहों पर आने-जाने से कतराने लगती हैं। वे हिंसा से बचने के लिए भी कई तरीक़े निकालती है जैसे रात होने पर कुछ खास जगहों, सड़कों पर न जाना, अकेले व रात में बाहर निकलने से बचना इत्यादि। परिवार भी घर की औरतों व लड़कियों को सुरक्षित रखने के इरादे से उन पर अनेक अंकुश लगा देते हैं।

कहने के मायने यह हरगिज़ नहीं है कि पुलिस या कानून की कोई ज़रूरत नहीं है। सच तो यह है कि पुलिस और निगरानी बेहतर हो जाने पर औरतों को यौन हिंसा की रिपोर्ट करने का हौसला मिल जाएगा। परन्तु आकड़ों में बढ़ोत्तरी होना अपराध बढ़ने की सही निशानी नहीं है।

एक नए कानून के बनने या पुराने कानून में संशोधन होने से या फिर विभिन्न प्रकार की हिंसाओं पर जानकारी और चेतना फैलाने वाले अभियानों से हिंसा की रिपोर्टिंग में बढ़त होगी और लोग कानून की मदद लेने के लिए आगे आएंगे। परन्तु कानून व प्रक्रियाओं की जानकारी के साथ-साथ लोगों का न्याय कार्यान्वियन प्रणाली व आपराधिक न्याय ढांचों पर यह भरोसा भी बहुत ज़रूरी है कि उन्हें कम समय में उचित न्याय मिलेगा।

लिहाज़ा आज औरतों की सार्वजनिक जगहों पर सुरक्षा के लिए बहु-पक्षीय प्रयास करने होगे जिसमें कानूनी तथा अन्य तरीक़े शामिल हों। सशक्त प्रभावशाली व बेहतर कानून के साथ-साथ उनका कम समय में उपयुक्त कार्यान्वियन भी ज़रूरी है। पुलिस को भी औरतों के साथ संवेदनशीलता से व्यवहार करना होगा जिसमें उनके पूर्वग्रह शामिल न हों। यह समझना होगा कि उन्हें व्यक्तिगत नज़रिये और पूर्वग्रह उनके काम के रास्ते में न आएं।

अंत में यही कहना होगा कि पुलिस, न्यायपालिका और कानूनी तंत्र एक ही सामाजिक-सांस्कृतिक ढांचे का अभिन्न अंग हैं। किसी भी सतत व दीर्घकालीन सामाजिक बदलाव के लिए इन दोनों के बीच तालमेल, समन्वय व इच्छाशक्ति होना बहुत ज़रूरी है।

__कल्पना विश्वनाथ__ शोधकर्त्ता हैं जो कई वर्षों से 'महिलाओं के लिए समावेशी शहर निर्माण' के मुद्दे पर कार्यरत हैं।

आपबीती

"मेरी शादी 16 जनवरी 1996 में हुई। पहले दिन से ही ससुराल में प्रताड़ना शुरू हो गई। पति, सास, ननद सभी गाली गलौज व ताने कसते। पति शराब पीकर रोज़ाना मारपीट भी करने लगा। मायके वालों को बताया तो वे कहने लगे कि समय के साथ सब ठीक हो जाएगा। पर कुछ नहीं बदला। पांच सालों में मेरे तीन बच्चे भी हो गए। मैं ख़ामोशी से सब कुछ सहती रही। पर अब बर्दाश्त कर पाना मुश्किल हो रहा था। मैंने डरते—डरते पुलिस को फ़ोन कर दिया। इसके बाद पति मेरे साथ—साथ बच्चों की जान का भी दुश्मन बन गया। पर मैंने हालतों से लड़ने और संघर्ष करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। मैंने कदम बढ़ाये और सबका सामना करते हुए आगे बढ़ती रही।

मुझे खुशी है कि कानून की मदद से मैंने अपनी व अपने बच्चों की ज़िन्दगी को उस नरक जैसी जगह से निकाल लिया। कानून में न्याय तो है पर लड़ाई बहुत धीरे—धीरे व सबके साथ लड़नी पड़ती है। पर आत्मविश्वास बहुत बड़ी चीज़ होती है। यदि हम इसे ना छोड़ें तो बड़ी से बड़ी कठिन परिस्थिति से हम जीत सकते हैं।

मैंने बारह साल इसी कोर्ट—कचहरी की लड़ाई में निकाल दिए हैं। दिल्ली की शायद ही कोई अदालत बची होगी जहां मैं नहीं गई। कानून में अक्सर अन्याय भी होता है। जानकारी न होने के कारण कोर्ट में वकील कुछ भी उल्टा सीधा समझा देते हैं और जिसका केस चल रहा होता है, उसे वही मानना पड़ता है।

मेरी इस कानूनी लड़ाई में जागोरी संस्था तथा मेरी कुछ सहेलियों ने मेरा बहुत साथ दिया।

मैंने अपने पति के ख़िलाफ़ घरेलू हिंसा का केस डाला है। कुछ साल 498ए धारा के तहत भी केस चला। मेरी हिम्मत ही थी कि आज तक संघर्ष कर रही हूं। पर सही मायने में मुझे कानून से सहायता नहीं मिली इसका मुझे अफ़सोस है।"

संवाद

महिला सशक्तता और कानून

सुमन नलवा

जैसी ही मैंने अपने अनुभव लिखने के लिए कम्प्यूटर चालू किया वैसे ही मेरे सहायक ने मुझे इत्तला दी कि एक महिला मुझसे मिलना चाहती है। कुछ ही पल में एक खुशनुमा भाव वाली औरत हाथ में मिठाई का डिब्बा लिए मेरे सामने खड़ी थी। उसके चेहरे पर नज़र पड़ते ही मुझे याद आया कि वह आठ माह पहले अपनी तेईस वर्षीय शादी में होने वाली घरेलू हिंसा की शिकायत लेकर मेरे पास आई थी। उस समय उसके कूल्हे की हड्डी में दरार, चेहरे पर चोट के निशान और दिल में मायूसी थी। पर आज उसके चेहरे पर आत्मविश्वास और खुशी देखकर मुझे बहुत अच्छा लगा। वह मुझे और मेरे महिला कक्ष के साथियों को धन्यवाद देने आई थी। उसने बताया कि उसने एक नए सिरे से जीवन जीने का इरादा कर लिया है।

इस महिला का केस अदालत में न जाने कितने साल चलेगा और उसका फ़ैसला क्या रहेगा यह भी हमें पता नहीं है। पर मुझे हम सबकी जीत इसी बात में नज़र आती है कि आज एक औरत अपनी ज़िंदगी दोबारा शुरू कर रही है— उसे उम्मीद और खुद पर विश्वास हो गया है।

महिलाओं के साथ होने वाले सामाजिक गुनाह जो अपराध की श्रेणी में आते हैं में घरेलू प्रताड़ना, दहेज की मांग, उत्पीड़न, भ्रूण हत्या, यौन हिंसा आदि शामिल हैं। समाज ने अपनी दोषनिवारक भूमिका को नज़रअंदाज़ कर दिया है इसलिए इस मुद्दे को सम्बोधित करने के लिए पुलिस बचाव, छानबीन और प्रतिकार के तरीक़े अपना रही है। ऐसे कदम उठाए जा रहे हैं कि कानून का उल्लंघन न किया जा सके और अगर ऐसा हो तो अपराधी को सज़ा मिले और गुनाह दोबारा न किया जाए। पर इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए पुलिस को विभिन्न पणधारियों जैसे समुदाय, गैर सरकारी संगठन, सरकारी इकाइयों के साथ भागीदारी और गठजोड़ की ज़रूरत है जिससे आपराधिक न्याय तंत्र प्रताड़ित वर्ग को अधिक सहयोग और जवाबदेही प्रदान करने में सक्षम बने।

पुलिस की मुख्य भूमिका है समाज में कानूनी व्यवस्था बनाये रखना और अपराधों की जांच-पड़ताल व रोकथाम। मेरे अनुसार यह एक बेहद सतही भूमिका है। पुलिस में अपनी सेवा के दौरान मैंने देखा है कि एक सहानुभूतिपूर्ण सुनवाई और संवेदनशील रवैया पीड़ित को एक आशा की किरण दिखा देता है, उसमें न्याय के प्रति विश्वास जगाकर जीने का हौसला प्रदान करता है। पुलिस सेवा के 15 वर्षों में मैंने पुलिस सक्रियता, लापरवाही, बेरूखी सभी महसूस की हैं। मैंने जाना है कि हम अपने नज़रिये में बेहद कानूनी होकर अपने दायरों में रहकर भी मानवीयता के साथ काम कर सकते हैं। इस भावना के बगैर हम समाज में अपना पूरा योगदान नहीं दे सकते।

मेरा यह भी मानना है कि हम कानून के कार्यान्वयन में निश्चित मार्गदर्शक नहीं हो सकते

क्योंकि यह एक पुलिस अफ़सर के ऊपर निर्भर करता है कि वह कानून को अपनी समझ के अनुसार लागू करे। ये समझ-बूझ, संस्था के मूल्य और रोज़मर्रा के व्यवहार ही इस बात को तय करते है कि एक प्रताड़ित महिला को क्या सहयोग और मदद मिलेगी। इस पूरी व्यवस्था में एक लिंग संवेदी रवैया और सहयोग सुनिश्चित कर पाना बेहद मुश्किल है और जब तक अफ़सरों में महिलाओं के प्रति संवेदनशीलता और प्रतिबद्धता नहीं होगी तब तक पीड़ित को न्याय नहीं मिलेगा।

हमारे समाज में पुलिस व जनता के बीच एक गहरी खाई है। महिलाएं पुलिस के पास हिंसा की रिपोर्ट लिखवाने से कतराती हैं। उस पर पुलिस का असहयोगपूर्ण व्यवहार उसे हताश कर देता है। थानों में निम्न ओहदों पर तैनात पुलिसकर्मी इस अरक्षित वर्ग के साथ नाइंसाफ़ी करते रहते हैं। उनकी लापरवाही, असक्रियता, शिकायतों की पड़ताल न करने की आदत व अपराधियों के साथ मिली-भगत कुछ ऐसी समस्याएं हैं जिन पर कार्यवाही करना बेहद ज़रूरी है।

पुलिस व्यवस्था में एक महिला अफ़सर होने की अपनी अलग चुनौतियां हैं। मुझे पंजाब पुलिस अकादमी में अपना पहला दिन आज भी याद है। अपने समूह में मैं अकेली औरत थी। प्रशिक्षण के शारीरिक मानक मेरे लिए बहुत कठिन और चुनौतीपूर्ण थे। पर मेरे प्रशिक्षक ने मुझे समझाया, 'मैडमजी यहां पर आप एक पुलिस अफ़सर हैं जिसे अपनी टीम का नेतृत्व करना है।' उस दिन से आज तक ऐसा ही रहा है। कभी-कभी घर और काम के बीच तालमेल मुश्किल हो जाता है। पर जीवन इसी का तो नाम है। सीखना और आगे बढ़ना।

पुलिस सेवा ने मुझे एक सामाजिक पहचान और अपनी मर्ज़ी के अनुसार जीने की आज़ादी दी है। पर मेरा मानना है कि सशक्तता एक मानसिक रवैया है जो हौसले, प्रतिबद्धता और आत्म-विश्वास से आता है। मैं अपने आसपास की महिला दोस्तों को देखती हूं जो भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक और शारीरिक उत्पीड़न ख़ामोशी से सहती रहती हैं, विरोध नहीं करती। शायद बहुत कुछ उनके आत्मविश्वास, सामाजीकरण और आसपास मौजूद सहयोगी ढांचों की गैर मौजूदगी के कारण है जो उन्हें अरक्षित और मजबूर बना देते हैं।

महिला अपराध शाखा में अपने लम्बे समयकाल में मैंने बहुत सारी घटनाएं देखी-सुनी हैं जहां औरतों के साथ अन्याय हुआ है। पर मुझे आज भी सबसे अधिक हैरानी औरतों की सहनशक्ति पर होती है। वे कभी बच्चों के नाम पर, कभी माता-पिता की खातिर और कभी इज़्ज़त के लिए ज़लालत सहती रहती हैं। हमें यह समझने की ज़रूरत है कि दर्द अपने आप कम नहीं होता। समस्या खुद-ब-खुद हल नहीं होगी। हमें महिलाओं के लिए एक प्रगतिशील नज़रिया और पूरा सहयोग प्रदान करने वाला सहयोगी तंत्र तैयार करना होगा। कितनी ऐसी औरतें हैं जो हमारी मदद तब तक नहीं मांगती जब तक माता-पिता, भाई-बहन और मायके वाले उन्हें सहारा नहीं देते। किसी भी सामाजिक सुरक्षा, आश्रयघर, आर्थिक साधन के अभाव में औरत अपने पांव पर खड़ी नहीं हो सकती चाहे उसे कितनी भी कानूनी सहायता क्यों न मिल जाए।

बदलाव की हवा चल चुकी है। नए कानून, नई नीतियां बन रही हैं। पर मूल चुनौती है औरत को सशक्त बनाने की। केवल आर्थिक स्तर पर नहीं बल्कि भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी। तभी सही मायने में समाज में परिवर्तन नज़र आयेगा।

सुमन नलवा *दिल्ली पुलिस की महिला व बच्चों के लिए विशेष शाखा में अतिरिक्त डीसीपी के पद पर कार्यरत हैं।*

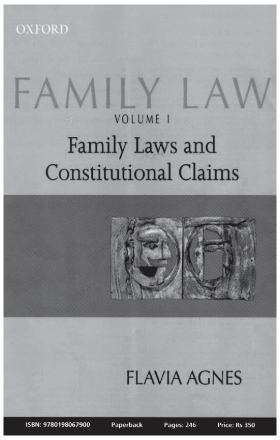

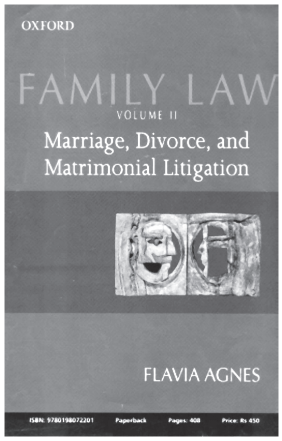

पुस्तक परिचय

भाग-1	**फ़ैमिली लॉज़ एण्ड कॉन्सटीट्यूशनल क्लेमज़**
भाग-2	**मैरिज, डाईवोर्स एण्ड मैट्रीमोनियल लिटिगेशन**
लेखकः	**फ्लेविया एगनिस**
प्रकाशकः	**ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2011**
पृष्ठ/मूल्यः	**भाग-1-600/350/-, भाग-2-508/450/-**

इन दोनों पुस्तकों का प्रमुख विषय है वैवाहिक न्यायशास्त्र जिसका विश्लेषण करते हुए लेखिका ने पारिवारिक कानून और महिलाओं के अधिकारों की समीक्षा की है। पुस्तकों में इन अधिकारों की दो स्तरों पर चर्चा की गई है। भाग एक में, भारत में विभिन्न पारिवारिक कानूनों के संदर्भ में औरतों के हक़ों की बात की गई है। भाग दो में, विवाह तथा उसे जुड़े विरोधाभासों का विश्लेषण किया गया है।

हमारे परिवार और समाज में व्याप्त लैंगिक भेदभाव और असमानताओं को सम्बोधित करते हुए ये पुस्तकें एक निष्पक्ष तरीके से परिवार व समाज से संबंधित कानूनों की बात करती हैं। लेखिका ने इन दोनों भागों में कानूनी मान्यताओं, औरतों के जीवन की सच्चाइयों और कानून की धारणाओं की समीक्षा की है जो महिलाओं को उनके हक़ हासिल करने में एक अहम भूमिका अदा करते हैं। इसके साथ ही कानूनी सिद्धान्तों व नियमों, कानूनी रणनीतियों, अंतरिम आदेशों और आपसी बातचीत के महत्व पर भी इन पुस्तकों में विस्तार से चर्चा की गई है।

पुस्तक के पहले भाग, जो पारिवारिक कानून और संवैधानिक अधिकारों के विषय पर है में मुख्यतः तीन हिस्से हैं। पहला हिस्सा हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी व यहूदियों के व्यक्तिगत कानूनों की उपनिवेशी व उपनिवेशवाद के बाद के समय में उत्पत्ति पर केंद्रित है। दूसरा हिस्सा इन कानूनों के विवाह, तलाक़, विरासत और उत्तराधिकार के समकालीन प्रश्नों पर कार्यान्वयन से जुड़ा है। तीसरे और अंतिम भाग में लेखिका ने इस विषय को उठाया है कि क्या औपचारिक और सूत्रबद्ध कानूनों और नए बदलावों तथा परिवर्तनशील सामुदायिक व्यवहारों और अनेकत्व के बीच तालमेल स्थापित किया जा सकता है।

इस भाग में न्यायपालिका की भूमिका, समान नागरिक कानून पर बहसों और अकादमिक चर्चाओं तथा स्तरित और सीढ़ीबद्ध सामाजिक परिवेश में महिलाओं के नागरिकता के दावों पर भी गौर किया गया है।

भाग दो- विवाह, तलाक़ और वैवाहिक मुकदमों पर केंद्रित है। इस भाग में भी तीन मुख्य विषयों की समीक्षा की गई है। सबसे पहले विवाह की वैधता तथा तलाक़ से संबंधित कार्रवाइयां, बाल विवाह, विदेश में रहने वालों के बीच शादी तथा विवाह पंजीकरण के कानूनी पहलुओं पर समझ बनाने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त गुज़ारा भत्ता, रिहाइशी हक़ तथा बच्चों के संरक्षण और हिरासत के मुद्दों की कानूनी रूपरेखा को भी इस भाग में विस्तृत रूप से उठाया गया है। पुस्तक के अन्त में इस बात पर चर्चा की गई है कि वैवाहिक कानून की कार्यवाही व पारिवारिक न्यायालयों के बढ़ते अधिकारों को देखते हुए क्या लैंगिक न्याय के सरोकारों को सम्बोधित किया जा रहा है।

इन दोनों पुस्तकों के अकादमिक नज़रिए को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह कानूनी व्यावसायिकों, वकीलों, न्यायाधीशों, कार्यकर्ताओं, शिक्षकों और विद्यार्थियों को महिला अधिकारों की समझ बनाने में मददगार रहेगी। यह राजनीति शास्त्र, समाजशास्त्र व जेंडर अध्ययन करने वालों के लिए भी उपयोगी पठन सामग्री हो सकती है।

__जुही जैन__ नारीवादी कार्यकर्ता व लेखिका हैं।

फ़िल्म समीक्षा

ब्रेकिंग द बैरियर

सरिता बलोनी

निर्देशन : सुषमा नारायण
भाषा : हिन्दी
अवधि : 60 मिनट
प्रस्तुति : सेंटर फ़ॉर मीडिया एण्ड कल्चरल स्टडीज़, टाटा इस्टिट्यूट ऑफ़ सोशल साईसेज़

इस वृत्तचित्र की शुरूआत एक औरत अपने अनुभवों को बताते हुए करती है। वह कहती है कि स्टोव पर खाना बनाते समय वह जल गई थी और घर पर कोई न होने के कारण पड़ोसी उसे अस्पताल ले गये थे। परन्तु उसकी पड़ोसिन का कहना कुछ अलग है। वह बताती है कि महिला ने अपने ऊपर मिट्टी का तेल डालकर आग लगाई थी। उसका शराबी पति उस समय घर पर ही था।

फ़िल्म की सूत्रधार घरेलू हिंसा के इस मामले की बात करते हुए कहती है कि यह केस पुलिस थाने में दुर्घटना के तहत दर्ज है। पर सच्चाई यही है कि यह एक घरेलू हिंसा का मामला है। कुछ अन्य किरदार भी यह कहते हैं कि घरेलू हिंसा लोगों का व्यक्तिगत मामला होता है जिसमें पड़ोसी या बाहर वाले दखल नहीं दे सकते। लोगों को थाने जाकर शिकायत करने में भी डर लगता है।

इसके साथ-साथ फ़िल्म में कुछ वकीलों व सामाजिक कार्यकर्ताओं जैसे फ्लेविया एग्निस, हरीश सधानी, अंजली दवे के इस मुद्दे पर विचारों को भी शामिल किया गया है। लगभग सभी का मत है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था व समाज का पुरुष प्रधान ढांचा घरेलू हिंसा को बढ़ावा देते हुए इस पर ख़ामोशी की चादर डाल देता है।

फ़िल्म के तीसरे हिस्से में एक फ़ोरम की बैठक में घरेलू हिंसा की चर्चा हो रही है। इस चर्चा में घरेलू हिंसा झेल रही महिला के प्रति संवेदनशील रवैये, परामर्श केंद्र की अहमियत व भूमिका, संगठित विरोध की सशक्तता, पुलिस कर्मियों की ज़िम्मेदारी व कानूनी प्रक्रियाओं की समझ जैसे मुद्दे उठाए जा रहे हैं।

यह फ़िल्म इस बात पर ज़ोर देती है कि घरेलू हिंसा को व्यक्तिगत मामला मानने की सामाजिक सोच को बदलना बहुत ज़रूरी है। इसी सोच के कारण महिलाएं समझौते और ख़ामोशी को अपनी नियति मान लेती हैं। काफ़ी महिलाओं के लिए हिंसा और अत्याचार का यह सिलसिला उनकी मृत्यु के साथ ही खत्म होता है।

अंत में फ़िल्म यह समझाने का प्रयास करती है कि समुदाय, राज्य और महिलाओं के साथ मिलकर इस मुद्दे को मुख्यधारा में उजागर करना होगा। 'व्यक्तिगत ही राजनैतिक है' की सोच को अहमियत देते हुए घरेलू हिंसा को समाज के सामने लाने से ही कुछ बुनियादी बदलाव की उम्मीद की जा सकती है।

यह फ़िल्म एक अच्छी प्रशिक्षण सामग्री है जिसे महिला व हिंसा मुख्यतः घरेलू हिंसा के मुद्दे पर समझ बनाने, समाजिक रवैयों, पितृसत्तात्मक विचारधाराओं और खुद को दोषी मानने की महिलाओं की आदत पर गहन बहस छेड़ने के लिए उपयोगी पाया जा सकता है।

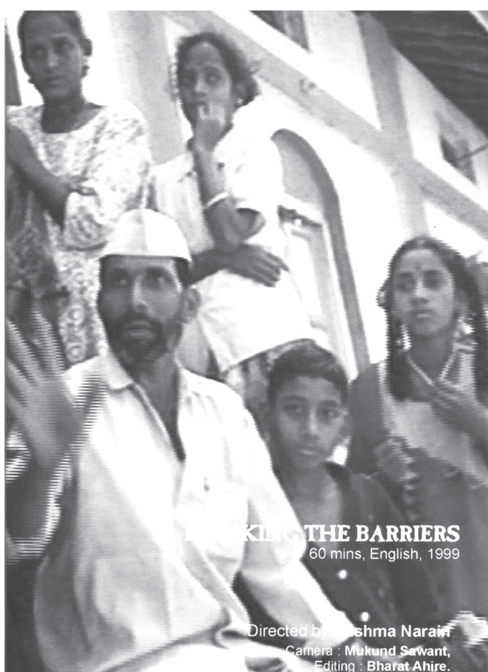

***सरिता बलोनी** जागोरी की कार्यकर्ता हैं।*

बस!
औरतों पर हिंसा अब और नहीं!

14 फरवरी 2013 को
दुनिया के हर कोने में दिखेंगे
‘उमड़ते सौ करोड़’

आओ हम जहां भी हों
बाहर सड़कों पर आएं
हिंसा मिटाएं, प्यार फैलाएं

ONE BILLION RISING
उमड़ते सौ करोड़
STRIKE I DANCE I RISE
विरोध करो । नाचो । उठो

दक्षिण एशिया में संपर्क करें: sangat@sangatsouthasia.org/www.sangatsouthasia.org
www.facebook.com/OneBillionRisingSouthAsia
विश्व में संपर्क करें: ONEBILLIONRISING.ORG